

# बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

संरक्षक संपादक  
प्रो. गिरीश्वर मिश्र

संपादक  
अशोक मिश्र

सहायक संपादक  
अमित विश्वास



महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

## बहुवचन

अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक

अंक : 42 (जुलाई-सितंबर- 2014) ISSN- 2348-4586

प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

## संपादकीय संपर्क :

संपादक बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र)

मो. संपादक- 09422386554, ईमेल- bahuwachan.wardha@gmail.com

प्रकाशन प्रभारी : राजेश कुमार यादव

ईमेल- rajeshkumaryadav97@gmail.com फोन- 07152-232943, मो. 09975467897

## © संबंधित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

## पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें :

प्रचार प्रसार : सुरेश कुमार यादव

फोन : 07152-232943, मो. 09730193094, ईमेल- s.ujala80@gmail.com

## बिक्री और प्रसार कार्यालय :

प्रकाशन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र) भारत

फोन : 07152-232943, फैक्स : 07152-230903

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के नाम से, जो वर्धा में देय हो, ऊपर लिखित बिक्री कार्यालय के पते पर भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।

यह अंक : 50 रुपये, वार्षिक शुल्क 200 रुपये

विदेश में : हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड

समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड

आवरण : अशोक सिद्धार्थ

## BAHUVACHAN

A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI

PUBLISHED BY: MAHATMA GANDHIAN TARRASHTRIYA HINDI VISHWAVIDYALAYA

GANDHI HILLS, POST-HINDI VISHWAVIDYALAYA, WARDHA-442005 (MAHARASHTRA) INDIA.

मुद्रक : रुचिका प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोन : 011-22821174, 9212796256)

email : ruchikaprinters2005@gmail.com

## अनुक्रम

<b>आरंभिक</b>		
	साहित्य में सन्नाटा	4
<b>वैचारिकी</b>		
	भारत में जनतंत्र : अध्ययन की चुनौतियां/पुष्पेश पंत	6
	प्रेमचंद का दलित-विमर्श/कमल किशोर गोयनका	11
	जीवन में साहित्य की उपस्थिति/राकेश भारतीय	32
	आदिवासी साहित्य : स्वरूप, चुनौतियां और संभावनाएं/गंगा सहाय मीणा	38
	पलामू में आदिवासी विप्लव : बिखरी-खोई कड़ियां/राकेश कुमार सिंह	44
<b>उपन्यास अंश</b>		
	कागज की नाव/नासिरा शर्मा	52
<b>कहानी</b>		
	भले लोग/सुबोध कुमार श्रीवास्तव	66
	भीतरी सांकल/बलराम अग्रवाल	75
<b>कविताएं</b>		82
	अशोक वाजपेयी, नरेंद्र जैन, स्मिता वाजपेयी, नीलोत्पल, राजेश जैन	
<b>पत्र</b>		
	जेल से लिखे : फैज़ के पत्र एलिस के नाम/प्रस्तुति : शकील सिद्दीकी	101
<b>संस्मरण</b>		
	गर्माहट भरे दोस्ती के हाथ/महावीर अग्रवाल	110
<b>जन्मशती स्मरण</b>		
	प्रकृति और प्रेम के कवि नरेंद्र शर्मा/राजेंद्र उपाध्याय	115
<b>आलोचना</b>		
	हजारी प्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व्यंजक निबंध/अवधेश प्रधान	120
	करुणा की चित्रलिपि में जीवन का गद्य/पंकज पराशर	127
<b>शोध पत्र</b>		
	प्रतिरोध की संस्कृति, नुक्कड नाटक और महिलाएं/सुप्रिया पाठक	139
<b>मीडिया</b>		
	मीडिया-बाजार में सरोकार का सवाल/मुकेश कुमार	151
<b>बात बोलेगी</b>		
	अधूरे सूर्यो का सत्य : साबरमती आश्रम से एक्सप्रेस का सफर/संजीव	156

## आरंभिक

# साहित्य में सन्नाटा

साहित्य में इन दिनों बहुत गहरा सा सन्नाटा छाया हुआ है। एक के बाद एक मनहूस खबरों का आना बदस्तूर जारी है। जुलाई माह का संबंध हमारे साहित्य की दो प्रमुख घटनाओं से जुड़ा हुआ है। बातें और बहुत सी हो सकती हैं लेकिन पहला है प्रेमचंद का जन्मदिन और दूसरा है उनके द्वारा शुरू की गई पत्रिका 'हंस' के पुनर्नवा होने यानी कथाकार राजेंद्र यादव द्वारा अगस्त-1986 में दोबारा शुरू किए जाने का जन्मदिन। यह भी इत्तफाक है कि दोनों ही एक ही दिन 31 जुलाई को पड़ते हैं। पिछले 27 बरसों से 'हंस' हिंदीभाषी समाज की प्रमुख पत्रिका बनी हुई है। साहित्य में नई बहस और विमर्श शुरू 'हंस' के माध्यम से उठाने का श्रेय निर्विवाद रूप से राजेंद्र यादव को रहा है। इन दिनों साहित्य में सन्नाटे की एक बड़ी एक वजह यह भी हो सकती है कि राजेंद्र यादव के दिवंगत होने के बाद नए सवालियों को उठाने का सिलसिला थम सा गया है।

आज कथा साहित्य पर विचार करते हुए मुझे बार बार न जाने क्यों प्रेमचंद याद आते हैं। हालांकि उनकी जन्मशती करीब नौ बरस पहले मनाई गई थी और उस मौके पर काफी कुछ लिखा और कहा गया। इसके बावजूद लमही में प्रेमचंद का स्मारक स्थल और पैतृक घर आज भी उपेक्षा का शिकार है। दूसरी ओर विदेशों में बड़े लेखकों के घरों और उनकी धरोहर को जिस तरह वहां का समाज संभालकर-संजोकर रखता है वह काबिलेतारीफ कहा जा सकता है। दूसरी ओर हमारे देश भारत में हर काम के लिए सरकार का मुंह देखने की आदत बन चुकी है। यही वजह है कि आज हमारे पास दिवंगत हो चुके सैकड़ों शीर्षस्थ लेखकों की स्मृतियों के नाम पर सिर्फ उनकी कृतियां भर हैं। जाहिर है कि बहुत से काम बिना किसी सरकारी सहायता के भी किए जा सकते हैं बस जरूरत है उसके लिए ईमानदारी भरा प्रयास और पहल करने की। हमारे यहां केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा स्थापित अकादमियों की स्थिति और भी गई बीती है। ये अकादमियां कुछ पुरस्कार बांटकर, संगोष्ठियां या विमर्शों का आयोजन कर अपने कर्तव्य की इतिश्री कर लेती हैं। आज हमारे समय में रचनाकारों की कई पीढ़ियां एक साथ सृजनरत हैं फिर भी प्रेमचंद जो लिखकर चले गए हम अभी भी उस पर बहस ही कर रहे हैं। आज भी प्रेमचंद के कद का एक भी लेखक नहीं है जिसे पढ़ते हुए भारत के गांवों की भूख, गरीबी और बदहाली भरे जीवन से रू-ब-रू हुआ जा सके। दूसरा कटु सच तो यह है कि गांव आज के लेखन से सिरे से नदारद होता जा रहा है। एक और सच्चाई है कि आज लिखा जा रहा साहित्य पढ़ते हुए वह प्रभाव नहीं छोड़ता है जो कि हमारे कई परवर्ती लेखकों की रचनाओं से निकलता था और हम उसे आत्मसात करते थे। कभी-कभी न जाने क्यों लगता है कि हमारे समय में लिखा जा रहा साहित्य भाषा के साथ-साथ संवेदना के स्तर पर भी अपनी चमक खोता जा रहा है। नए लेखक बदलते समय का यथार्थ लिखने में व्यस्त जरूर हैं ऐसे में सरोकारों की बात करना क्या निरर्थक सवाल है हमें इस दिशा में सोचने की जरूरत है।

पिछले कुछ माह से सरकारी विज्ञापनों के बलबूते लघु पत्रिकाओं की लहलहाती फसल एकाएक

सूखती दिख रही है 'कथादेश' का प्रकाशन खतरे में है इसी के साथ कई और साहित्यिक पत्रिकाएं अपनी मौत की तरफ कदम बढ़ाती दिख रही हैं। दरअसल कुछ वर्ष पहले दिल्ली सरकार ने करीब तीस पत्रिकाओं को प्रति अंक तीस हजार रुपए का विज्ञापन देने का सिलसिला शुरू किया था जो कि उसकी विदाई के साथ एकाएक बंद हो गया। यह विज्ञापन बंद होते ही इन पत्रिकाओं का संकट शुरू हो चुका है। दरअसल इस बीच इन पत्रिकाओं द्वारा आत्मनिर्भरता की दिशा में जो प्रयास होने चाहिए थे वह नहीं हुए जिसका परिणाम इस नए संकट के रूप में इन पत्रिकाओं के सामने खड़ा है।

इस बीच हमारे कथा साहित्य के दिग्गज कथाकार मधुकर सिंह नहीं रहे। एक बार राजेंद्र यादव के दरियागंज स्थित 'हंस' कार्यालय में उनसे अचानक भेंट हुई थी। सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों और साहित्यिक-सांस्कृतिक संगठनों से मधुकर सिंह का प्रत्यक्ष जुड़ाव रहा है। बिहार के सोशलिस्ट, वामपंथी एवं भोजपुर के किसान आंदोलन का उनकी रचनाओं पर खासा प्रभाव है। मधुकर सिंह की तीन कहानियां मुझे अच्छी तरह याद आती हैं उनमें - 'लहू पुकारे आदमी', 'दुश्मन', 'हरिजन सेवक' प्रमुख हैं। उनके लगभग दस कहानी संग्रह और कहानियों के कुछ प्रतिनिधि संकलन और उपन्यास भी प्रकाशित हुए हैं। फणीश्वरनाथ रेणु के बाद मधुकर सिंह को ऐसा कथाकार माना जाता रहा कि, जिनका कथा साहित्य सामाजिक बदलाव की चेतना के कारण खास महत्व रखता है। उन्होंने गांवों को सदैव अपने लेखन के केंद्र में रखा। इसी कड़ी में अचानक भाई तेज सिंह के निधन की खबर से मैं काफी चौंका क्योंकि दिल्ली में अकसर वे किसी गोष्ठी या काफी हाउस में बड़े ही अपनेपन से मिलते थे। वे दलित विमर्श को अपने चिंतन से समृद्ध बनाते रहे। असमय कई साहित्यकारों के अवसान से साहित्य का कोना लगातार रिक्त होता जा रहा है जो कि उदास भी करता है और जिसकी भरपाई लगभग असंभव है।

बहुवचन के इस अंक में बहुविध सामग्री का संयोजन किया गया है। प्रेमचंद साहित्य पर निरंतर नया अनवेषण करने वाले सुप्रसिद्ध आलोचक कमल किशोर गोयनका ने प्रेमचंद की रचनाओं को दलित विमर्श के आलोक में नए सिरे से व्याख्यायित किया है। उन्होंने यह लेख प्रकाशन के लिए बहुवचन को दिया इसके लिए उनका हार्दिक आभार। अंक के वैचारिकी खंड में लोकतंत्र पर प्रख्यात विद्वान पुष्पेश पंत का चिंतकपरक लेख, कथाकार राकेश भारतीय का जीवन में साहित्य की उपस्थिति पर विचारणीय लेख एवं राकेश कुमार सिंह का पलामू में आदिवासी विद्रोह की कड़ियों को जोड़ता हुआ लेख प्रमुख है। युवा आलोचक गंगा सहाय मीणा ने आदिवासी साहित्य के बहाने महत्वपूर्ण बातें कहीं हैं। अंक में सुप्रसिद्ध कथाकार नासिरा शर्मा के नए उपन्यास का एक पठनीय अंश और कहानियां, कविताएं पूर्ववत् हैं। संस्मरण खंड में महावीर अग्रवाल ने कमलेश्वर को याद किया है। एक दौर के महत्वपूर्ण शायर फौज अहमद फौज के जेल प्रवास के दौरान अपनी पत्नी को लिखे गए कुठेक पत्र दिए गए हैं जिनका अनुवाद कथाकार शकील सिद्दीकी ने किया है। आलोचक अवधेश प्रधान ने हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों की चर्चा की है वहीं पंकज पराशर ने अपने लेख में कवयित्री और गद्यकार महादेवी वर्मा के पशु पक्षी प्रेम की विस्तार से पड़ताल की है। सुप्रिया पाठक ने अपने शोध लेख में पारसी थिएटर में स्त्रियों की भूमिका को रेखांकित किया है। मीडिया कालम में इस बार जन सरोकारों की चर्चा की है मुकेश कुमार ने और कथाकार संजीव का कॉलम 'बात बोलेगी' पहले की तरह ही दिया जा रहा है।

अंक कैसा लगा यह जानने की जिज्ञासा जरूर रहेगी।

अशोक मिश्र

# भारत में जनतंत्र : अध्ययन की चुनौतियां

पुष्पेश पंत

शायद शुरू में ही यह स्पष्ट करने की जरूरत है कि 'भारत में जनतंत्र' को 'भारतीय जनतंत्र' का पर्याय नहीं समझा जाना चाहिए। हालांकि यह बात अक्सर कही जाती है कि भारत 'विश्व का सबसे बड़ा जनतंत्र' है पर इस मुद्दे पर विचार करने की मोहलत बहुत कम लोगों को मिलती है कि भारतीय राजनैतिक प्रणाली तथा सामाजिक जीवन में 'जनतांत्रिक तत्व' की पडताल ठंडे दिमाग से की जा सके। जब जब चुनाव संपन्न होते हैं यह बात दोहराई जाती है कि यह जनतंत्र का पर्व है जिससे यह भ्रांति ही पुष्ट होती रहती है कि जनतंत्र का अर्थ निर्भय-निष्पक्ष चुनाव तक ही सीमित है। यदि चुनाव के माध्यम से सरकार बदलना संभव है तब फिर चुनाव के पहले या बाद में सार्वजनिक जीवन में जनतंत्र को अक्षत रखने की चिंता हमें नहीं रहती। इसके साथ साथ यह जोड़ने की जरूरत है कि भारतीय जनतंत्र ब्रिटेन के संसदीय जनतंत्र का अनुसरण करता है और संसार के दूसरे देशों के जनतांत्रिक अनुभव से बहुत भिन्न है। मसलन अमेरिका की राष्ट्रपति प्रणाली अथवा राष्ट्रकुल के सदस्य ऐसे देशों से भी जो गणराज्य या संघीय राज्य नहीं हैं। ऐसा लग सकता है कि यह सब तो स्कूली पाठ्य पुस्तकों में दर्ज ऐसी बातें हैं जिसकी जानकारी सभी को है परंतु हमारा मानना है कि इनकी याद दिलाए बिना बात सार्थक ढंग से आगे नहीं बढ़ाई जा सकती।

हाल के वर्षों में भारत के जनतंत्र के विषय में देशी-विदेशी विद्वानों ने तरह तरह की टिप्पणियां की हैं- किसी को यह वंशवादी-कुनबापरस्त जनतंत्र नजर आता है तो किसी को अनुदार जनतंत्र। पहला नामकरण वरिष्ठ पत्रकार गिरिलाल जैन ने किया था और दूसरे फिकरा फरीद जकारिया का है। जैन साहब का मानना था कि वंशवादी जनतंत्र (डायनैस्टिक डिमोक्रेसी) की जड़ें हमारे देश में इसलिए मजबूत हो सकी थीं कि बुनियादी तौर हमारा सामाजिक संस्कार संयुक्त पारिवारिक, भाई भतीजावादी और कमोबेश पितृसत्तात्मक-सामंतशाही वाला है। दूसरी तरफ जकारिया का मानना है कि अनुदार जनतंत्र (इल्लिब्रल डिमोक्रेसी) भले ही पश्चिमी विकसित देशों के उदार (आदर्श?) जनतंत्र का विकृत स्वरूप ही क्यों ना हो विकासशील देशों के लिए किसी दूसरी अजनतांत्रिक व्यवस्था से कहीं बेहतर है- वह फौजी तानाशाही हो या साम्यवादी दलों द्वारा प्रायोजित 'जनतांत्रिक केंद्रीकरण' के जरिए सर्वहारा के पक्षधर एक दल की तानाशाही। बहरहाल।

जनतंत्र के बारे में आम आदमी की समझ और सोच अब्राहम लिंकन के उस मशहूर उद्धरण से बनती-बिगडती रही है जिसमें यह परिभाषित किया गया है कि 'जनतंत्र जनता के लिए, जनता के द्वारा, जनता की सरकार है।' इस शब्दजाल में एक बार फंसने के बाद बाहर निकलना कठिन

हो जाता है। सबसे बड़ी दिक्कत जनतंत्र को सरकार तक सीमित करने से पैदा होती है फिर 'जनता के द्वारा' वाला रोडा राह में आता है- जनता खुद सरकार नहीं चलाती अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से यह काम करती है। एक बार चुने जाने के बाद यह गारंटी कोई नहीं ले सकता कि वह सरकार 'जनता के लिए' चलाएंगे स्वार्थ साधन के लिए नहीं। आजादी के बाद से आज तक का भारत का अनुभव यही दर्शाता है कि निर्वाचन प्रणाली की खूबियों तथा खामियों की वजह से जिसे 'फर्स्ट पोस्ट पोस्ट सिस्टम' कहा जाता है बहुधा वह उम्मीदवार जीतता है जिसे कुल मतों का बहुमत नहीं अल्पमत ही हासिल होता है। यही नहीं बाहुबल और धनबल के कारण साधन संपन्न प्रत्याशी अपने मुकाबले में खड़े प्रतिद्वंद्वियों को आसानी से धूल चटा सकता है। सभी राजनैतिक दल जीत सकने वाले उम्मीदवार को ही टिकट देते हैं अतः समर्थ सबल प्रभावशाली न्यस्त स्वार्थों से जुड़े पारंपरिक शासकवर्ग के सदस्य आरंभ से ही भारतीय जनतंत्र के नेतृत्व में सर्वाधिक सक्रिय दिखलाई देते रहे हैं। अपना बहुमत सुनिश्चित करने के लिए सभी राजनैतिक दल वोट बैंकों का सहारा लेते रहे हैं और इस वजह से धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्रीयता विचारधारा-सिद्धांतों एवं मूल्यों को हाशिए से भी परे धकेलने में सफल हुए हैं।

यह बात बहुत आसानी से भुलाई जाती रही है कि जिस समय भारत आजाद हुआ था उस समय भारत की आबादी का आकार और स्वरूप क्या था। लगभग साठे पांच सौ रियासतें और रजवाड़े ऐसे थे जहां अंग्रेज सरकार का शासन नहीं था। सिर्फ यह राजा महाराजा बर्तानवी सम्राट या साम्राज्ञी की प्रभुता के आधीन थे। जनतंत्र की आत्मा है कानून का राज और कानून के राज का आधार स्तंभ है कानून के सामने सभी नागरिकों की समानता। जाहिर है कि औपनिवेशिक युग में भारत के उस भूभाग में भी यह 'समानता' एक भ्रांति ही थी जहां अंग्रेजों का प्रत्यक्ष शासन था रियासतों रजवाड़ों में तो इसके दर्शन दुर्लभ थे। दूसरे शब्दों में जनतांत्रिक जीवन का संस्कार ग्रहण करने में समय लगना स्वाभाविक था।

यहां एक और महत्वपूर्ण मुद्दे की ओर ध्यान दिलाने की जरूरत है। भारत में यह मिथक काफी समय से महिमामंडित है कि देश के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के जनतंत्र प्रेम के कारण ही हमारा देश आजादी के बाद जनतांत्रिक बन सका और उनके निधन के बाद भारत में निरंतर जनतांत्रिक संस्थाओं और परंपराओं का हास देखने को मिला है। हम विनम्रता से यह मतभेद दर्ज कराना चाहते हैं कि किसी भी व्यक्ति का आंख मूंदकर पूजन हमें पथभ्रष्ट ही कर सकता है। जाहिर है कि कोई एक व्यक्ति चाहे वह कितना ही करिश्माई महामानव क्यों न हो अकेले भारत जैसे विविधता से भरे विशाल देश में अपनी इच्छानुसार ऊपर से जनतंत्र आरोपित नहीं कर सकता। भारत के राष्ट्र निर्माण में नेहरू का योगदान अद्वितीय है पर यह नतीजा निकालना कि भारत में जनतंत्र उनका दिया उपहार है बचपना ही जहा जा सकता है। यहां इस बात का जिक्र इसलिए जरूरी है क्योंकि कुछ विद्वानों के मत में भारत में जनतंत्र का करिश्माई स्वरूप नेहरू की विरासत का अभिन्न अंग है और करिश्मे को वंश/परिवार विशेष के साथ जोड़ने के प्रयास ने ही दलगत राजनीति को दूषित किया है और संवैधानिक संस्थाओं-व्यवस्थाओं को दुर्बल बनाया है। यहां विस्तार से इस विषय की पडताल का अवकाश नहीं परंतु इस बात को रेखांकित किए बिना काम नहीं चल सकता कि भारत में जनतंत्र का प्रवेश नेहरू के राजनीति में सक्रिय या असरदार होने से बरसों पहले हो चुका

था। वास्तव में यह प्रक्रिया क्रमशः बरसों जारी रही। भारत में अंग्रेजी शासन को जिम्मेदार तथा जवाबदेह बनाने के लिए जो संवैधानिक सुधार लागू किए गए उनके जरिए ही भारतवासियों का परिचय 'चुनावों' तथा उस 'कानून के राज' से हुआ जो भले ही फिरंगी हाकिमों ने साम्राज्य के फायदे के लिए लागू किए थे जनता में राजनैतिक चेतना के विकास को जन्म देने वाले साबित हुए। इस बात को नकारना असंभव है कि 1935-36 में जब कांग्रेस तथा सहयोगी दलों ने कई सूबों में सरकार बनाई तभी सत्ता सुख भोगने के इस अनुभव ने आजादी के बाद बनने वाली कांग्रेसी सरकारों का 'चरित्र' निर्धारित कर दिया था। स्वयं राष्ट्रपिता बापू इस अनुभव से बहुत खिन्न थे और उन्होंने आजादी के बाद कांग्रेस के विलय तक का सुझाव दिया था!

हकीकत यह है कि जनतंत्र में घनघोर आस्था प्रकट करने वाले नेहरू ने अपने जीवनकाल में कांग्रेस पार्टी के भीतर जनतंत्र को बढ़ावा कभी नहीं दिया। देते भी कैसे खुद उनका अभिषेक हमेशा जनतांत्रिक पद्धति से नहीं हुआ था। उनका सबसे बड़ा सहारा गांधीजी थे जिन्होंने उन्हें अपना राजनैतिक उत्तराधिकारी घोषित किया था। जिन परिस्थितियों में सुभाष को कांग्रेस से निकलना पड़ा या कैसे पटेल की प्रधानमंत्री पद की दावेदारी को अनदेखा किया गया यह सर्वविदित है। जो बात भुला दी गई है वह यह है कि लंबे समय तक प्रधानमंत्री के रूप में कार्यरत नेहरू ने संघीय प्रणाली को जनतांत्रिक रूप से नहीं चलाया वरन स्वामिभक्त सूबेदारों या सहयोगी सामंतशाही का मॉडल ही अपनाया। मध्यभारत में पंडित रविशंकर शुक्ल, पश्चिम बंगाल में बिधानचंद्र राय, ओडीसा में बीजू पटनायक, पंजाब में प्रताप सिंह कैरों तथा उत्तर प्रदेश में गोविंद बल्लभ पंत इसी की मिसाल हैं। भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन से भी नेहरू ने भारतीय जनतंत्र की जड़ों को कमजोर कर संकीर्ण सांप्रदायिक किस्म की क्षेत्रीय उपराष्ट्रवादी मानसिकता को बढ़ावा दिया। औपनिवेशिक जरूरतों को पूरा करने वाली नौकरशाही या कानूनों में बदलाव की दरकार नेहरू ने महसूस नहीं की। कभी उनके साथी रहे राम मनोहर लोहिया तथा जयप्रकाश नारायण, आचार्यद्वय नरेंद्र देव, कृपलानी ने दो टूक शब्दों में नेहरू के अजनतांत्रिक स्वभाव तथा शासकसुलभ अहंकारी मिजाज की आलोचना की है। पर यह भी यहां विषयांतर ही है जिस तरह एक अकेला इनसान देश को जनतांत्रिक बनाने में अक्षम है वैसे ही जनतंत्र के कमजोर होने के लिए किसी एक व्यक्ति को जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। रजनी कोठारी ने 'भारत में राजनीति' नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में उन कारणों एवं परिस्थितियों का विस्तार से विश्लेषण किया है जिनकी वजह से कांग्रेस का एकाधिकारी वर्चस्व 1960 के दशक के मध्य तक बना रह सका। यहां यह याद रखें कि गांधी के सपनों वाले उस भारत का जिसमें आत्मनिर्भर गांवों और रामराज की बात कही गई थी कोई दूर दराज का भी नाता पश्चिमी नमूने के जनतंत्र से नहीं था। बाद के बरसों में लोहिया को इसीलिए चौखंबा राज की बात करने की जरूरत पड़ी। दूर्वाजड़ों पर आम आदमी को सशक्त करने को नजरंदाज कर वैस्टमिंस्टर मॉडल को अपना के अपनी आधुनिकता, उदार संसदीय 'जनतांत्रिक' राजनीति के प्रदर्शन का हठ बड़ी सीमा तक नौकरशाही के ताकतवर बने रहने और भूमि सुधारों की विफलता के लिए जिम्मेदार समझा जाना चाहिए।

नेहरू के बाद सबसे लंबे समय तक उनकी पुत्री ने भारत पर राज किया। यह वाक्य पढ़ने सुनने में क्लेशदायक है पर यथार्थ से दूर नहीं। जिस तरह से इंदिरा की ताजपोशी हुई और फिर



उन्होंने अपने को सिंडिकेट के दिग्गजों के चंगुल से छुड़ाकर कांग्रेस को विभाजित कर खुद को एकाधिपति के रूप में प्रतिष्ठित किया उससे कोई भी अनजान नहीं। लोकलुभावन नारे गढ़ने में माहिर सलाहकारों की मदद से इंदिरा गांधी ने खुद को गरीबों का मसीहा बनाकर पेश किया और उत्पीड़क शोषकों से उन्हें मुक्ति दिलाने के लिए इस बात पर जोर दिया कि इस अभियान को सर्वदा जनतांत्रिक तरीके से नहीं चलाया जा सकता। 1975 में आपातकाल की घोषणा के बहुत पहले ही उन्होंने संविधान संशोधन, अध्यादेश वाले तरीके अपनाना शुरू कर दिया था। राष्ट्रपति चुनाव में अंतरात्मा की आवाज सुनकर मतदान का आग्रह हो या बैंकों का राष्ट्रीकरण इनको संपन्न कराने का तरीका निश्चय ही भारत में जनतंत्र की सेहत के लिए मुफीद नहीं समझा जा सकता। आपातकाल के काले अध्याय का तफसील से पुनरावलोकन करने से कुछ हासिल होने वाला नहीं परंतु इसे भुलाना और भी घातक होगा। प्रतिबद्ध न्यायपालिका और प्रतिबद्ध नौकरशाही की अवधारणा को प्रतिपादित करने के साथ साथ सत्ता के अतिशय केंद्रीकरण की प्रवृत्ति इसी समय बलवान हुई। कांग्रेस पार्टी की आलाकमान के फरमान देश के कानून से ऊपर समझे जाने लगे। संजय गांधी जैसे असंवैधानिक शक्ति के केंद्र और उनके उच्छृंखल उद्दंड, लंपट पिछलग्गुओं के कारण जिस राजनैतिक अपसंस्कृति का विकास उन दिनों हुआ उसके दुष्प्रभाव से भारत का जनतंत्र आज तक मुक्त नहीं हो सका है। आपातकाल समाप्त होने के बाद देवकांत बरुआ का मजाक इस लिए उड़ाया जाता था कि उन्होंने चापलूसी की हद करते हुए भजन गान किया था- 'इंदिरा ही भारत हैं और भारत इंदिरा ही हैं।' पर आज जब यह कोरस सुनने को मिलता है कि देश के जनतांत्रिक धर्मनिरपेक्ष रूप को सिर्फ उनके वंशज सोनिया- राहुल ही बचा सकते हैं तब इसका प्रतिकार करने के लिए बहुत ज्यादा संख्या में जनतंत्र के पक्षधर सामने नहीं आते। स्वयं को प्रगतिशील मानने वाले समझते हैं कि कांग्रेस का विरोध करने वाले सांप्रदायिक फासीवादी हो सकते हैं या दक्षिणपंथी दकियानूस। भारत में जनतंत्र की सबसे बड़ी विडंबना यही है कि जनतंत्र को नेहरू-गांधी परिवार की जागीरदारी जैसे विरासत माना जाने लगा है।

इसका एक कारण यह है कि जब-जब गैर कांग्रेसवाद का ज्वार चढ़ा है और केंद्र या प्रांतों में गैर कांग्रेसी दलों ने कांग्रेस को विस्थापित किया है ऐसी वैकल्पिक सरकारों-दलों का अपना आचरण जनतांत्रिक नहीं रहा है। खुदगर्ज मौकापरस्ती, संकीर्ण क्षेत्रीयता, भ्रष्टाचारी भाई-भतीजावाद कांग्रेसी आचरण को भी मात करते दिखलाई दिए हैं। 1967-68 में संविद सरकारों के गठन से 1977 की लोकनायक जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में प्राप्त दूसरी आजादी तक का अनुभव यही सबक सिखलाता है।

दुर्भाग्य से जो जनांदोलन पिछले बरसों में संचालित हुए हैं उनका स्वरूप और संस्कार भी अराजक, निरंकुश, भयादोहन आतुर ही रहा है। जनतंत्र के प्रति आस्था के अभाव के कारण ही वह बिखरते असफल होते रहे हैं। संपूर्ण क्रांति का नारा हो अथवा कमंडल के मुकाबले मंडल को खड़ा करने की रणनीति सभी के बारे में यह बात सटीक लगती है।

हमारी समझ में भारत में जनतंत्र की बात राजनीति या चुनावों तक सीमित रखना नासमझी है। जनतंत्र के आधार स्तंभों अर्थात् कुछ विशेष संस्थाओं पर दृष्टिपात और उनके तटस्थ मूल्यांकन के बिना यह संभव नहीं कि हम भारत को सही मायनों में जनतंत्र कह सकें। यह संस्थाएं हैं -

न्यायपालिका, राष्ट्रीय आयोग-अल्पसंख्यक, महिला, अनुसूचित जाति तथा जनजाति से संबद्ध, मानवाधिकारों तथा बाल अधिकारों के मामले में जवाबदेह। इनके अतिरिक्त चुनाव आयोग, संघ लोकसेवा आयोग तथा संवैधानिक संसदीय समितियों (पीएसी) तथा कैंग जैसे संवैधानिक अधिकारियों के क्रियाकलाप की पड़ताल के बिना अब काम नहीं चल सकता, साथ ही मीडिया की भूमिका तथा नागरिक समाज की सक्रियता के बारे में तटस्थ विश्लेषण की जरूरत है। भूमंडलीकरण के युग में उदारीकरण के अतिरेकी उत्साह के कारण वैश्विक का दबाव स्थानीय से हमारा ध्यान हटाता जा रहा है। यह समस्या सिर्फ राजनीति के क्षेत्र तक सीमित नहीं है।

राजीव गांधी के शासनकाल में पंचायतीराज विषयक संवैधानिक संशोधनों ने निश्चय ही यह आशा जगाई थी कि भारतीय यथार्थ के अनुकूल जनतांत्रिक परंपरा का सूत्रपात हो सकेगा। यह आशा धूमिल होते देर नहीं लगी। इस बारे में गंभीरता से विचार विमर्श की आवश्यकता है कि कहीं ऐसी ही सेंधमारी ने सूचना के अधिकार की धार भी तो कुंद नहीं कर दी है?

आज देश की आबादी का आधे से अधिक भाग 26-27 वर्ष से कम उम्र का है। 18 वर्ष की आयु में मतदाता बने समूह की संख्या हर आम चुनाव में बढ़ती जा रही है करोड़ों में। इनका रुझान कितना जनतांत्रिक है? यह गवेषणा का विषय बचा है इसे टाला नहीं जा सकता।



# प्रेमचंद का दलित-विमर्श

कमल किशोर गोयनका

इक्कीसवीं शताब्दी के आरंभ के पूर्वा पर समय में हिंदी साहित्य में दलित-विमर्श एक मजबूत आंदोलन के रूप में उभरा और विकसित हुआ। हिंदी की कुछ पत्रिकाओं ने स्त्री-विमर्श के साथ दलित-विमर्श को प्रमुख स्थान दिया तथा अन्य हिंदी पत्र-पत्रिकाओं ने भी दलित-विमर्श पर बहस करके इसे और भी व्यापक बनाने का प्रयत्न किया। इक्कीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में दलित लेखकों द्वारा प्रेमचंद के विख्यात महाकाव्यात्मक उपन्यास 'रंगभूमि' को सार्वजनिक रूप से जलाने तथा उन्हें दलित-विरोधी लेखक बताने की घटना ने दलित-विमर्श को साहित्य के केंद्र में लाकर स्थापित कर दिया और डॉ. भीमराव अंबेडकर द्वारा 'मनु-स्मृति' को जलाने के ऐतिहासिक प्रसंग के साथ इसे जोड़कर देखा जाने लगा। प्रेमचंद को दलित-विरोध के केंद्र में लाने से हिंदी-संसार में बड़ी व्यापक प्रतिक्रिया हुई और प्रेमचंद के पक्ष-विपक्ष दोनों में पत्र-पत्रिकाओं में लेख छपने लगे तथा दलित लेखकों की आत्मकथाएं, दलित कहानी-संग्रह, प्रेमचंद की दलित-कहानियों के संकलन तथा दलित साहित्य पर महत्वपूर्ण आलोचनात्मक पुस्तकों के प्रकाशन का दौर शुरू हुआ। भारतीय ज्ञानपीठ ने प्रेमचंद के दलित एवं स्त्री विषयक विचारों पर तथा उनकी दलित कहानियों के संकलन के रूप में दो पुस्तकें प्रकाशित कीं तथा रामकुमार घोटड़ ने प्रेमचंद की दलित समाज की कहानियों का संकलन प्रकाशित कराया। आलोचना के क्षेत्र में कृष्णदत्त पालीवाल की दो पुस्तकें वाणी प्रकाशन से प्रकाशित हुईं (1) 'दलित साहित्य के सरोकार' तथा (2) 'उत्तर आधुनिकतावाद और स्त्री-विमर्श'। पालीवाल ने वर्तमान दलित-विमर्श के सरोकारों के साथ संस्कृत वाङ्मय के साथ उसके सूत्रों को जोड़ने का सफलता पूर्वक प्रयत्न किया है तथा उसकी परंपरा तो तलाशने का उद्योग किया है। मेरे विचार में उन्होंने दो प्रकार से दलित-विमर्श को देखा है- (1) 'रामायण' और 'महाभारत' से लेकर डॉ. अंबेडकर के आने तक का दलित-विमर्श, और (2) डॉ. अंबेडकर के दलित-दर्शन से उपजे एवं विकसित दलित-विमर्श तक।

साहित्य में जब कोई नई प्रवृत्ति जन्म लेती है तो उसके कुछ ऐतिहासिक कारण होते हैं तथा उसके कुछ सूत्र अतीत में विद्यमान रहते हैं। यह सत्य है कि डॉ. अंबेडकर तथा दलित लेखकों ने दलित समाज और दलित साहित्य को जितनी प्रमुखता के साथ उठाया है, उतना सामूहिक प्रयास कम ही दिखाई देता है, किंतु ऐसा भी नहीं है कि वर्ण-व्यवस्था तथा उच्च वर्णीय समाज में उनका कोई स्थान न हो। 'रामायण' में राम निषाद राज को गले लगाते हैं और उसे 'भरत सम भाई' मानते हैं तथा शबरी के जूठे बेर खाते हैं। 'महाभारत' में राजा शांतनु मछुआरे जाति की कन्या सत्यवती (मत्स्यगंधा) से विवाह करते हैं और उसी के संतानें राजवंश का इतिहास रचती हैं तथा विदुर तो

दासी-पुत्र ही थे। अंबेडकर ने वेद-शास्त्र तथा पुराणों को डाइनामाइट लगाकर उड़ाने की बात कही थी, लेकिन जो सूत्र भी उपलब्ध हैं, उन पर विचार तो होना चाहिए। कृष्णदत्त पालीवाल का यह मत विचारणीय है कि क्या समूची साहित्य परंपरा को प्रतिक्रियावादी, अस्पृश्य, प्रतिगामी एवं निरर्थक मानना उचित है? भारतीय साहित्य की गौरवपूर्ण परंपरा को ठुकराना समझदारी नहीं है। भक्ति-काल के काव्य-साहित्य में सवर्ण कवियों ने दलित जातियों को गले लगाया और इन पिछड़ी जातियों में कबीर, रैदास, नाभा, दादू आदि बड़े कवि उत्पन्न हुए और जात-पात का विरोध हुआ। हरि के भजन में कोई जात-पात नहीं पूछता 'जात-पाति बूझे नहीं कोई, हरि को भजै हरि का होई।' इन कवियों को संत माना गया और संपूर्ण समाज ने उन्हें आदर-सम्मान दिया।

आधुनिक-काल के आरंभ में स्वामी दयानंद तथा स्वामी विवेकानंद के दलित-विमर्श एवं गांधी के अछूतोद्धार के राष्ट्रीय आंदोलन ने दलित-विमर्श को एक राष्ट्रीय प्रश्न बनाया और स्वराज्य के लिए दलित-मुक्ति को अनिवार्य घोषित किया। स्वामी दयानंद ने जाति को जन्म के स्थान पर कर्म से जोड़कर एक आधुनिक विचार को जन्म दिया और स्वामी विवेकानंद तो उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक और बीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में दलित चेतना के सबसे बड़े उद्भावक थे। विवेकानंद ने दलित-नीति को आधुनिक रूप दिया और अपने जीवन और विचारों में अस्पृश्यता, पुरोहित एवं ब्राह्मणवाद की कटु भर्त्सना की और उन्होंने उच्च एवं सवर्ण जातियों की तुलना में नीच जाति के लोगों को अधिक संवेदनशील एवं मानवीय पाया। स्वामी विवेकानंद दरिद्र, निर्बल एवं अशिक्षित को 'नारायण' मानते थे और इस विराट जन-समूह को नवभारत का जनक स्वीकार करते थे। विवेकानंद के दलित समाज में मोची, मेहतर, जुलाहा, गड़रिया, डोम, लुहार आदि सभी नीच जातियां शामिल थीं जो सहस्रों वर्षों से उच्च वर्ण के अत्याचार सहन करती आई हैं और सतत विपत्ति एवं दमन के बावजूद अद्भुत धैर्य और शक्ति प्राप्त की है जिसमें सिंह बल छिपा है। विवेकानंद कहते हैं कि इस देश में दस-बीस लाख साधु और दस-एक करोड़ ब्राह्मण इन गरीबों का रक्त चूसते हैं, पर उनके सुधार का रत्ती-भर भी प्रयत्न नहीं करते, यह कोई देश है या नर्क? वह धर्म है या शैतान का नग्न नृत्य? विवेकानंद ने ब्राह्मणवाद, पुरोहितवाद एवं मतछुओवाद की कटु आलोचना करते हुए कहा कि या तो ब्राह्मण संभल जाएं और शूद्रों को ब्राह्मण बनाएं, अन्यथा भविष्य शूद्रों का है और वे ही भविष्य में शासन करेंगे, क्योंकि उनकी झोंपड़ियों में राष्ट्र बसता है और वही भावी भारतवर्ष है।

स्वामी विवेकानंद के बाद मोहनदास करमचंद गांधी ने देश की दलित समस्या को राष्ट्रीय रूप प्रदान किया और स्वराज्य के लिए साधारण जनता की अस्पृश्यता से मुक्ति को आवश्यक माना। गांधी के साथ अंबेडकर भी दलितोद्धार के मसीहा के रूप में सामने आए, किंतु दोनों के रास्ते भिन्न-भिन्न थे। अंबेडकर के विचारों में गांधी 'पतित व्यक्ति' थे, न वे महात्मा' थे, न 'राष्ट्रपिता' और न 'लोकमंगलकारी चिंतक' तथा गांधी-युग तो 'अंधकार युग' था। गांधी वर्णाश्रम धर्म के समर्थक थे और अंबेडकर उसके विरुद्ध; गांधी अस्पृश्यों को हिंदू धर्म का अंग मानते थे और अंबेडकर उसे हिंदू धर्म से अलग एक स्वतंत्र सत्ता बनाना चाहते थे। ब्रिटेन में हुई गोल मेज कांफ्रेंस तथा पूना पैक्ट के समय गांधी और अंबेडकर की दलित नीतियों के परस्पर विरोधी होने का सत्य विस्तृत रूप से सामने आया। प्रेमचंद गांधी के भारतीय राजनीति में आने से पूर्व ही अछूतोद्धार की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे और स्वामी विवेकानंद के विचारों से प्रभावित हो रहे थे। उन्होंने 'स्वदेश' के प्रवेशांक मार्च, 1918 में लिखा, 'हमारे समाज में अभी ऊंच-नीच का विचार बना हुआ है। दलित

अब भी अछूत है और डोमों का स्पर्श करना तो हमारे लिए घोर पातक है। मनुष्य की आत्मा की श्रेष्ठता, उसका गौरव हम भूल बैठे हैं। हमारी दृष्टि स्थूल हो गई है। वह शरीर के भीतर प्रवेश नहीं कर सकती। उसे आत्मिक समानता, पवित्रता और व्यापकता दिखलाई नहीं देती।' प्रेमचंद पूना पैक्ट के संबंध में गांधी के विचारों के साथ थे। प्रेमचंद ने गांधी का समर्थन करते हुए 'हंस' में लिखा- हम स्वीकार करते हैं, शूद्रों के साथ हमने अन्याय किया है। हमने उन्हें जी-भर कर रौंदा, कुचला, दला। इस अन्याय ने जिस हृदय को सबसे ज्यादा दुःखी किया है, वह उसी तपस्वी गांधी का हृदय है, जिसने अपना जीवन दलित भाइयों की सेवा में ही व्यतीत किया है।... महात्मा उन व्यक्तियों में हैं, जो दलितों के उद्धार में ही हिंदू जाति के उत्थान और उत्कर्ष का रहस्य छिपा हुआ देखते हैं, जो हिंदू जाति के मुख से अन्याय के इस कलंक को मिटा देने के लिए अपने प्राणों को भी अर्पण कर देने को तैयार हैं।' प्रेमचंद गांधी के इस विचार से सहमत हैं कि दलित समाज हिंदू जाति का ही अंग है और उनकी एकता से ही स्वराज्य संभव है। प्रेमचंद की अंबेडकर के प्रति आदर-भाव था, तभी 'हंस' के एक अंक के आवरण पर अंबेडकर का चित्र छापा था और एक टिप्पणी में अंबेडकर तथा मि. श्रीनिवास से आग्रह किया था कि गांधी के रूप में राष्ट्र की इस याचना को स्वीकार करें कि अछूतों के लिए पृथक् निर्वाचन हिंदू समाज एवं अछूत समाज दोनों के हित में नहीं हैं, क्योंकि दलित समाज का जीवन हिंदू जाति पर इतना अवलंबित है कि सरकार कुबेर के खजाने से भी उनकी रक्षा नहीं कर सकती। प्रेमचंद का मानना था कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने गृह-युद्ध की जो नींव रखी थी, महात्मा गांधी ने उसे निष्प्रभावी बना दिया है।

प्रेमचंद के दलित समाज पर गंभीरतापूर्वक विचार किया और उनके विचार 'प्रेमचंद: विविध-प्रसंग', खंड-2 (संपादक : अमृतराय) में 'छूत-अछूत' शीर्षक संकलित हैं। ये सभी विचार टिप्पणियों के रूप में 19 दिसंबर, 1932 से 14 मई, 1934 तक 'जागरण' साप्ताहिक में प्रकाशित हुए थे। इन टिप्पणियों में प्रेमचंद गांधी के साथ-साथ चलते हैं और अपने दलित-विमर्श के कुछ सूत्र प्रस्तुत करते हैं। प्रेमचंद मंदिर प्रवेश के प्रसंग को उठाते हैं जो गांधी के अछूतोद्धार आंदोलन का एक प्रमुख कार्य था। प्रेमचंद 'काशी का कलंक' (5 अक्टूबर, 1932) शीर्षक से लिखते हैं कि सनातन धर्म और वर्णाश्रम धर्म एवं काशी के दो-चार पंडित इस सामाजिक जागृति को रोक नहीं सकेंगे और यदि काशी का विश्वनाथ मंदिर अछूतों के लिए नहीं खुलेगा तो अछूतों के साथ करोड़ों हिंदू मिलकर दूसरे विश्वनाथ मंदिर का निर्माण करके उसी में पूजन करेंगे, क्योंकि विश्वनाथ किसी एक जाति या संप्रदाय के देवता नहीं हैं। प्रेमचंद गांधी के मंदिर-प्रवेश के प्रश्न को बराबर महत्व देते हैं और उन्हें आशंका है कि यदि अछूतों के मंदिर प्रवेश की समस्या का हल नहीं हुआ तो महात्मा गांधी पुनः अनशन पर बैठ सकते हैं। प्रेमचंद पुजारियों, महंतों, हिंदू धर्मचार्यों की कटु आलोचना करते हुए 'जागरण', 21 नवंबर, 1932 में लिखते हैं कि आपने आठ करोड़ हिंदुओं को मुसलमान बनवा दिया। यह छः करोड़ अछूत भी आप ही के विद्या-बाण से बेधे हुए हैं। क्या हिंदू-धर्म को संसार से मिटाकर ही हम लेंगे-आपको अपना हित भी नजर नहीं आता। प्रेमचंद बार-बार पुरोहितों, पंडों, पुजारियों आदि की भर्त्सना करते हैं और लिखते हैं कि इन्होंने मंदिरों को व्यभिचार और दुराचार के अड्डे बना दिए हैं। वे कहते हैं कि मैं 'मूर्ति-पूजा का विरोधी नहीं, टका-पूजा का शत्रु हूँ। 'प्रेमचंद' 'जागरण' के 8 जनवरी, 1934 के अंक में एक बहुत ही आलोचनात्मक लेख, क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी हैं' में लिखते हैं और इन धार्मिक पुरोहितों की भर्त्सना करते हैं। वे लिखते हैं, 'अगर हम में इतनी शक्ति

होती, तो हम अपना सारा जीवन हिंदू जाति को पुरोहितों, पुजारियों, पंडों और धर्मोपजीवी कीटाणुओं से मुक्त कराने में अर्पण कर देते। हिंदू-जाति का सबसे घृणित कोढ़, सबसे लज्जाजनक कलंक यही ढकेपंथी दल हैं, जो एक विशाल जोक की भांति उसका खून चूस रहा है और हमारी राष्ट्रीयता के मार्ग में यही सबसे बड़ी बाधा है। राष्ट्रीयता की पहली शर्त है, समाज में साम्य-भाव का दृढ़ होना। हम जिस राष्ट्रीयता का स्वप्न देख रहे हैं, उसमें तो जन्मगत वर्णों की गंध तक न होगी, वह हमारे श्रमिकों और किसानों का साम्राज्य होगा, जिसमें न कोई ब्राह्मण होगा न हरिजन, न कायस्थ, न क्षत्रिय। उसमें सभी भारतवासी होंगे, सभी ब्राह्मण होंगे, या सभी हरिजन होंगे।... राष्ट्रीयता की पहली शर्त वर्ण व्यवस्था, ऊंच-नीच के भेद और धार्मिक पाखंड की जड़ खोदना है।' प्रेमचंद हरिजन-समस्या को मंदिर-प्रवेश तक सीमित नहीं करते, वे लिखते हैं कि हरिजनों के साथ शिष्टता का व्यवहार करें, सफाई का काम सुविधा के साथ कर सकें, अच्छे और साफ मकान दिए जाएं, अच्छा भोजन और वस्त्र उपलब्ध हो तथा अपने बच्चों को मदरसों में भेज सकें तो हरिजन-समस्या बहुत कुछ हल हो सकती है। प्रेमचंद स्पष्ट कहते हैं कि स्वराज्य के लिए हमें विदेशी जुए, सामाजिक जुए के साथ इस पाखंडी जुए से भी मुक्त होना होगा, क्योंकि यह विदेशी शासन से कहीं घातक है। उनका अनुभव है कि गरीब किसान-मजदूर, अछूत और दरिद्र उच्च वर्णवालों के आघात सहकर भी अपने धर्म और मनुष्यता को हाथ से नहीं जाने देते और सबसे ज्यादा सच्चाई और सेवा-भाव रखते हैं। इस प्रकार प्रेमचंद के विचारों में स्वामी विवेकानंद और महात्मा गांधी के विचारों तथा कार्यों का गहरा प्रभाव है और वे इस प्रयत्न में हैं कि डॉ. अंबेडकर राष्ट्र एवं जाति के हित में गांधी के विचारों को स्वीकार कर लें, परंतु उन्होंने अंबेडकर के गांधी-विरोध के बावजूद उनकी आलोचना नहीं की।

भारत की स्वतंत्रता के बाद देश के दलित समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन आया- स्वतंत्रता, शिक्षा, आरक्षण, संवैधानिक संरक्षण, जातिगत भेद-भाव पर दंड की व्यवस्था तथा दलित समाज में बुद्धिजीवी वर्ग का उदय, और प्रशासन, राजनीति, शिक्षा आदि में भागीदारी। इसके बावजूद देश में जातिगत भेदभाव की घटनाएं होती रहीं और अस्पृश्यता एवं दमन से देश पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाया। काशीराम एवं मायावती के दलित-संरक्षण एवं दलित-मुक्ति का आंदोलन शुरू किया और अंबेडकर की दलित-नीति केंद्र में आ गई। मराठी में दलित साहित्य का उदय हुआ और हिंदी में भी दलित लेखकों की एक पीढ़ी अपनी स्वानुभूतिपूर्ण रचनाओं के साथ सामने आई और दलित-विमर्श का एक आंदोलन ही शुरू हो गया। हिंदी की कोई ऐसी पत्र-पत्रिका नहीं जिसने दलित समाज के प्रश्नों को न उठाया हो तथा दलित लेखकों की कृतियों पर विचार न किया हो। इसी बीच इक्कीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में दिल्ली हायर सेकेंडरी बोर्ड के हिंदी पाठ्यक्रम से प्रेमचंद के उपन्यास 'निर्मला' को हटाकर मृदुला सिन्हा के एक उपन्यास को लगाने तथा मेरी अध्यक्षता में सरकार द्वारा नियुक्त समिति द्वारा मृदुला सिन्हा के उपन्यास को हटाकर प्रेमचंद के उपन्यास 'रंगभूमि' (संक्षिप्त) को पाठ्यक्रम में लगाने पर साहित्य तथा राजनीति में प्रगतिशील एवं दलित लेखकों ने बड़ा हंगामा किया। हायर सेकेंडरी के पाठ्यक्रम में 'रंगभूमि' लगाने से प्रगतिशीलों का आंदोलन तो खत्म हो गया, किंतु दलित लेखकों ने 'रंगभूमि' को जलाया और उसे पाठ्यक्रम से हटाने का मुकदमा दायर किया कि 'रंगभूमि' में सूरदास को दलित दिखाकर उनकी जाति का अपमान हुआ है, लेकिन हमारी समिति ने 'रंगभूमि' के पाठ से ऐसे आपत्तिजनक शब्द पहले ही हटा दिए थे। अतः जब पाठ्य-पुस्तक बाजार में आई तो दलित लेखकों के सारे तर्क निरर्थक हो गए, लेकिन इससे दलित-विमर्श को एक नया

आयाम मिला और अब 'कफन' कहानी को भी दलित-विरोधी बताकर उसे भी पाठ्यक्रमों से हटाने की चर्चा होने लगी है। धर्मवीर ने 'कफन' की जिस रूप में विवेचना की है, उसने बहस को और भी उत्तेजक बना दिया है। दलित लेखकों को कहानी में दलित समाज की पक्षधरता नहीं अपमान दिखाई देता है, किंतु प्रश्न यह है कि साहित्य का मूल्यांकन तथा कसौटी धर्म और जाति के आधार पर होगी या मानवीय संवेदना एवं सरोकारों के आधार पर? साहित्य में न कोई हिंदू है, न मुसलमान, न ब्राह्मण, न दलित, न कायस्थ और न वैश्य। वह एक व्यक्ति होता है और वह अपने संपूर्ण परिवेश और मनोवृत्तियों के साथ सामने आता है, अतः उसके गुणावगुण उसकी जाति के कैसे हो सकते हैं?

हिंदी में दलित-विमर्श का रूप बदल गया है। स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानंद, गांधी, प्रेमचंद, निराला आदि सब पीछे छूट गए हैं और दलित-लेखकों ने अपना विमर्श स्वयं तैयार कर लिया है। कृष्णदत्त पालीवाल ने दलित लेखकों के इस दलित-विमर्श की गंभीरतापूर्वक परीक्षा की है और वे सवर्ण-अवर्ण तथा दलित-गैर दलित के विभाजन को पूर्णतः अस्वीकार करते हैं, क्योंकि वह अंधी गली में ले जाकर छोड़ता है। जातिवाद का जहर समाज को तोड़ रहा है और वैसे भी कोई लेखक रचना के समय, न तो भारतेंदु के रूप में बनिया होता है और न प्रेमचंद की तरह कायस्थ। रचना के समय रचनाकार अपने निजी अस्तित्व को विस्मृत करके अपनी सृष्टि का स्रष्टा होता है। वहां निजी राग-द्वेष लुप्त हो जाते हैं। पालीवाल स्पष्टतः कहते हैं कि जाति के आधार पर साहित्य का विभाजन मानवता के दर्शन का अपमान है, उसकी पराजय है, जबकि साहित्य की नींव ही मानवता पर आधारित है। दलित लेखकों ने स्वानुभूति एवं परानुभूति के प्रश्न को उठाकर भी दलित लेखन को गैर दलित लेखकों के साहित्य से अलग करने का प्रयत्न किया है। ये दलित लेखक इस तर्क से दलित लेखकों के स्वानुभूति से रचे साहित्य को एक स्वतंत्र स्वायत्त इकाई के रूप में स्थापित करते हैं और अंबेडकर को आदि स्रोत मानकर साहित्य एवं चिंतन की विगत परंपरा से स्वयं को विलग कर लेते हैं। यही कारण है कि प्रेमचंद और निराला जैसे दलित-समर्थक एवं दलित चेतना का विस्तार तथा जागृति उत्पन्न करने वाले लेखक भी उनके दलित-विमर्श में स्थान नहीं पाते तथा जिन संत कवियों ने जातिवाद के विरुद्ध आवाज उठाई, वे भी उपेक्षा के शिकार हो गए। दलित-विमर्श के वर्तमान रूप से देश में जाति-प्रथा मजबूत हो रही है तथा जातियों का परस्पर सामरस्य खत्म हो रहा है। कृष्णदत्त पालीवाल ने लिखा है कि दलित साहित्य और राजनीति ने 'जाति-प्रथा' और 'सवर्ण-वर्णवाद' के वर्चस्ववाद को चुनौती नहीं दी, केवल सत्ता पर कब्जा और 'आरक्षण' के आमों का स्वाद चखने के लिए उठा-पटक की। वे भूल रहे हैं कि 'आरक्षण' से 'जातिवाद' खत्म नहीं होगा, बल्कि दृढ़ होता है।

आज का दलित-विमर्श एक तरह से दलित लेखकों तक सीमित होता जा रहा है। दलित लेखक ही असली दलित साहित्य की रचना करते हैं, उनका साहित्य स्वानुभूति का है और परानुभूति का साहित्य उनका साहित्य नहीं है, दलित साहित्य की कोई परंपरा नहीं है, दलित साहित्य स्वायत्त है और उसका साहित्य-दर्शन अलग है और साहित्य की मुख्य धारा से उसका कोई संबंध नहीं है। ऐसे ही कुछ विचार और तर्क वर्तमान दलित-विमर्श में सुनाई पड़ते हैं, लेकिन गैर दलितों के सहानुभूतिपूर्ण दलित साहित्य को दलित-विमर्श में स्थान न देने से देश के एक बहुत बड़े हिंदू समाज को काटकर अलग कर देना विमर्श की शक्ति और उसकी व्यापकता को कम करना है। दलित लेखकों को यह समझना चाहिए कि इस नीति से उनका पाठक वर्ग कम होता जाएगा और एक बड़े वर्ग के लेखकों की सहानुभूति के कम होने का भी भय बना रहेगा। दलित लेखकों को यह पूरी



स्वतंत्रता है कि वे प्रेमचंद के दलित-चिंतन को चुनौती दें, उसकी आलोचना करें, क्योंकि साहित्य का लोकतंत्र सबके लिए खुला है, लेकिन उन्हें प्रेमचंद के समय तथा परिस्थितियों को भी ध्यान में रखना चाहिए। गांधी ने 'हरिजन' नाम से अखबार शुरू किया था, लेकिन अब जाति-विशेष के लिए 'हरिजन' शब्द का प्रयोग वर्जित है, लेकिन आज हम गांधी को इसके लिए अपराधी नहीं बना सकते। गांधी के समय में 'हरिजन' शब्द आदरसूचक था, अर्थात् हरि का जन, ईश्वर का जन। आज 'दलित' शब्द पर कोई आपत्ति नहीं है, किंतु यह संभव है कि कल इसे आपत्तिजनक मान लिया जाए। 'दलित' शब्द को स्वामी विवेकानंद, गांधी, प्रेमचंद आदि ने केवल अस्पृश्य जातियों तक सीमित नहीं किया था। 'दलित' में अस्पृश्य जातियां तो थी हीं, पर उसमें वे सब नीच जातियां भी थीं जो जुलाहा, धोबी, दलित, गड़रिया, महरा, सपेरा, माली, मदारी, भुनगी, पासी, कंजड़ आदि जातियों के रूप में जानी जाती थीं। 'दलित' का अर्थ है- जो जीवन में जाति, धर्म, अर्थ, व्यवसाय आदि सभी दृष्टि से दलित है, पिछड़ा है, दमित है, निरक्षर और निर्धन है तथा उच्च वर्णों की सेवा जिसका धर्म है, जो शूद्र जाति-वर्ग सम्मिलित किया जाता है। इस दलित समाज की जागृति एवं उत्थान के लिए दलित लेखक साहित्य की रचना कर रहे हैं, अपने अनुभूत सत्त्यों को रचना में बड़ी यथार्थता के साथ उद्घाटित कर रहे हैं, और कुछ गैर दलित लेखक परानुभूति के आधार पर ही सही, दलित-यातना का एक नई दृष्टि से चित्रण कर रहे हैं तो इससे दलित-विमर्श को शक्ति एवं व्यापकता मिलेगी और जातिवाद की क्रूरताओं तथा दमन-शोषण के कुछ नए चेहरे भी सामने आएंगे। दलित लेखक यदि जातिवाद को खत्म करना चाहते हैं तो गैर दलित लेखकों के बहिष्कार एवं उपेक्षा से उनके लक्ष्य की सिद्धि में कमजोरी आएगी तथा दलित साहित्य के प्रति शंका उत्पन्न होगी। गैर-दलित लेखकों का साहित्य-प्रेमचंद और निराला का साहित्य, दलित-विमर्श को पूर्ण बनाता है तथा 'द्विज साहित्य' तथा 'दलित साहित्य' के विभाजन को साहित्य की मूल आत्मा के विरुद्ध मानता है। दलित-विमर्श में 'स्वानुभूति' एवं 'परानुभूति' की दो आंखें हैं, दो अनुभूतियां हैं जो दलित-विमर्श में एकाकार हो जाती हैं और उसे ठोस एवं समग्र रूप प्रदान करती हैं।

आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास में और वह भी पराधीन भारत में, प्रेमचंद पहले ऐसे कथाकार हैं जिन्होंने दलितों के हजारों वर्षों से चली आई यातना, दमन तथा क्रूर मानवीय भेदभाव एवं अपमान का दंश अनुभव किया और फिर भी अपनी मनुष्यता को मरने नहीं दिया। स्वामी विवेकानंद ने इन शूद्र जातियों की यातना एवं मनुष्यता दोनों का उजागर किया और प्रेमचंद ने भी उनके मार्ग का अनुसरण किया और अपने उपन्यासों एवं कहानियों के द्वारा दलित-विमर्श का एक समानुकूल आधुनिक रूप प्रस्तुत किया। उनके विचारों को हम देख चुके हैं, परंतु उनके साहित्य में भी दलित-चेतना एक प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में दिखाई देती है। जहां तक उपन्यासों का संबंध है, उनके 'रंगभूमि' तथा 'गोदान' उपन्यास में कुछ ऐसे पात्र तथा प्रसंग हैं जो परानुभूति के बावजूद दलित साहित्य के बड़े कथाकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। 'रंगभूमि' उनका महाकाव्यात्मक उपन्यास है और उसका नायक सूरदास दलित जाति का है। दलित लेखकों को यह आपत्ति रही कि सूरदास को दलित बनाकर, उसे अंधा दिखाकर प्रेमचंद ने दलित जाति का अपमान लिया है। इन्हीं कुछ कारणों से दलित लेखकों ने 'रंगभूमि' को जलाया तथा पाठ्यक्रम से हटाने का आंदोलन चलाया, लेकिन वे ऐसा कोई प्रबल तर्क नहीं दे पाए जिससे दलित को अंधा नायक बनाने से दलित जाति का अपमान हुआ हो, बल्कि सच यह है कि सूरदास ने दलित जाति का गौरव बढ़ाया। प्रेमचंद ने



एक अछूत जाति के पात्र को नायक बनाकर क्रांतिकारी कार्य किया, सूरदास में गांधी की छवि उतारकर और भी बड़ा काम किया और धर्म-न्याय-सत्य की लड़ाई लड़ने के कारण उसे भारत के वीर-न्यागी महापुरुषों की परंपरा से जोड़ दिया। वह अंधा है, भिखारी है, पर उसकी अंतर्दृष्टि प्रबल है। उपन्यास के सभी सवर्ण पात्र-राजा-महाराजा, शासक, उद्योगपति आदि सभी उसके सम्मुख श्रद्धा से झुकते हैं तथा उसकी श्रेष्ठता को स्वीकार करते हैं। उपन्यास के अंत में उसका बलिदान गांधी के बलिदान से कम नहीं है। अतः 'रंगभूमि' तो दलित जाति के नायक को गांधी का प्रतीक बनाकर उसे समाज के शिखर पर स्थापित करती है, न कि किसी जाति का अपमान करती है। सूरदास प्रेमचंद की महान एवं कालजयी सृष्टि है और दलित जाति के लिए तो वह गौरव का केंद्र है। इसी प्रकार 'गोदान' में मातादीन-सिलिया के प्रसंग में दलितों द्वारा ब्राह्मण मातादीन के मुंह में हड्डी डालने का प्रसंग एक बार फिर प्रेमचंद के दलित-दर्शन के क्रांतिकारी रूप को उद्घाटित करता है। ब्राह्मण के पाखंड, छल-कपट एवं शोषण पर आघात करने के लिए उसे दलित बनाने से बड़ा दंड क्या हो सकता था, जबकि काशी के ब्राह्मण प्रेमचंद पर निरंतर ब्राह्मण-द्रोही होने का आरोप लगा रहे थे। प्रेमचंद ने 'गोदान' में ब्राह्मण और दलित तथा ब्राह्मण की परिभाषा के प्रश्न को भी इसी प्रसंग में उठाया है। सिलिया का बाप हरखू कहता है कि तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते तो हम तुम्हें दलित बना सकते हैं। हमें ब्राह्मण बना दो, हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है। जब यह समरथ नहीं है तो फिर तुम भी दलित बनो। हमारे साथ खाओ-पिओ, हमारे साथ उठो-बैठो। हमारी इज्जत लेते हो, तो अपना धर्म हमें दो। कथा के अंत में मातादीन सिलिया को देवी मानता है और अपने ब्राह्मणत्व का अहंकार त्यागकर उसके साथ रहने लगता है। सिलिया उसके ब्राह्मण बने रहने पर प्रश्न करती है तो मातादीन कहता है, 'मैं ब्राह्मण नहीं, दलित ही रहना चाहता हूँ। जो अपना धर्म पाले, वही ब्राह्मण है, जो धर्म से मुंह मोड़े, वही दलित है।' प्रेमचंद इस उत्तर से ब्राह्मण, दलित आदि के जन्म से होने के विश्वास को खंडित करते हैं और धर्माचरण में ही जातिगत श्रेष्ठता देखते हैं। 'महाभारत' में भीम और सर्प रूपी राजा नृग के संवाद में नृग युधिष्ठिर से पूछता है कि ब्राह्मण कौन है? युधिष्ठिर कहते हैं कि जिसके मन में दया, करुणा, वैराग्य, तपस्या, दान लेना-देना, अध्यायन-अध्यापन आदि गुण हों, वह ब्राह्मण है, लेकिन नृग ने आपत्ति की कि ये गुण तो शूद्र में भी हो सकते हैं। इस पर धर्मराज का उत्तर था, 'जिस मनुष्य में ये गुण हों, वह शूद्र नहीं ब्राह्मण है और जिसमें ये गुण न हों, वह ब्राह्मण वंश में जन्म लेकर भी शूद्र है।' वस्तुतः ये सारे गुण वंश से नहीं, स्वभाव से आते हैं, बल्कि ये जन्मजात होते हैं, किसी वर्ण में पैदा होने से नहीं। मातादीन की उक्त उक्ति भी इसी निष्कर्ष को प्रकट करती है। व्यक्ति का धर्म, अर्थात् उसके गुण ही उसके कर्म के आधार होते हैं, और वही उसकी जाति बन जाती है। प्रेमचंद की विशिष्टता यह है कि वे परानुभूति से दलित-विमर्श को इतनी ऊंचाइयों तक ले जाते हैं।

प्रेमचंद की कहानियों के दलित जीवन की साहित्य में अधिक चर्चा हुई है, किंतु दलित कहानियों के जो भी संग्रह निकले हैं, उनमें आधी-अधूरी कहानियों का ही संकलन किया गया है और इसके कारण प्रेमचंद की समग्र दलित कहानियां कभी किसी एक संकलन में नहीं आईं। अधिकांशतः संकलनकर्ताओं ने उनकी प्रसिद्ध दलित कहानियों को चुनकर संकलन तैयार कर दिया और इस कारण केवल 15-20 कहानियां ही पाठकों तक पहुंच पाईं। एक संकलन में दलित शोषण तथा दलित संदर्भ की कहानियों के रूप में उन्हें बांटने का प्रयत्न भी किया, परंतु कहानी में दलित

शोषण हो या संदर्भ, लेखक के दलित-विमर्श के लिए दोनों ही प्रकार की कहानियों का महत्त्व है, क्योंकि 'राष्ट्र का सेवक' जैसी लघुकथा का एक वाक्य, एक शब्द भी लेखक की दलित-दृष्टि को उद्घाटित करने में सक्षम है। अतः प्रेमचंद की उन सभी कहानियों के अध्ययन की आवश्यकता है, जिनमें दलित पात्रों की कथा है, उनके जीवन की समस्याएं हैं तथा वे भी जिनमें उनके जीवन की मानवीयता की, अच्छे मनुष्य की कोई झलक हो, कुछ गुणावगुणों का संकेत हो। प्रेमचंद की 301 कहानियों में 298 उपलब्ध हैं। इनमें 40 कहानियां दलित जीवन से संबंधित हैं। ये कहानियां निम्नलिखित हैं :-

1. दोनों तरफ से (मार्च, 1911), 2. सिर्फ एक आवाज (अगस्त-सितंबर, 1913), 3. बांका जमींदार (अक्टूबर, 1913), 4. अनाथ लड़की (जून, 1914), 5. खून सफेद (जुलाई, 1914), 6. अपनी करनी (सितंबर-अक्टूबर, 1914), 7. महातीर्थ (सितंबर, 1917), 8. पशु से मनुष्य (जनवरी, 1920), 9. रुहे हयात (जनवरी, 1921), 10. विध्वंस (25 जुलाई, 1921), 11. मूठ (जनवरी, 1922), 12. लोकमत का सम्मान (अक्टूबर, 1922), 13. सैलानी बंदर (फरवरी, 1924), 14. सौभाग्य के कोड़े (जून, 1924), 15. सवा सेर गेहूं (नवम्बर, 1924), 16. सभ्यता का रहस्य (फरवरी, 1925), 17. शूद्रा (दिसंबर, 1925), 18. मंत्र (फरवरी, 1926), 19. कजाकी (अप्रैल, 1926), 20. लांछन (अगस्त, 1926), 21. मंदिर (मई, 1927), 22. मंत्र (मार्च, 1928), 23. खुदी (1928), 24. प्रेम का उदय (अगस्त, 1929), 25. घासवाली (दिसंबर, 1929), 26. समर-यात्रा (अप्रैल, 1930), 27. मैकू (जून, 1930), 28. देवी (1930), 29. राष्ट्र का सेवक (1930), 30. सद्गति (1930), 31. खेल (अप्रैल, 1931), 32. तावान (सितंबर, 1931), 33. ठाकुर का कुंआ (24 अगस्त, 1932), 34. रोशनी (नवंबर, 1932), 35. गुल्ली डंडा (फरवरी, 1933), 36. बालक (अप्रैल, 1933), 37. दूध का दाम (जुलाई, 1934), 38. देवी (अप्रैल, 1935), 39. कफन (दिसंबर, 1935), 40. जुरमाना (1936)।

प्रेमचंद की दलित जीवन पर कुल 40 कहानियां हैं जो उपलब्ध 298 कहानियों का लगभग 13 प्रतिशत हैं, अर्थात् यह अन्य भाव-धाराओं में एक अलग धारा है, जो निश्चय ही प्रमुख धारा नहीं है, परंतु लेखक की संवेदना और सरोकार में घनीभूतता, ठोसता और सशक्त है। प्रेमचंद की दलितोत्थान की चिंता उनकी राष्ट्रीय चिंताओं में से है, यही कारण है कि वे वर्ष 1911 से 1936 तक निरंतर दलित जीवन पर कहानियां लिखते रहे और इन 26 वर्षों में (1911-1936) उन्होंने 20 वर्षों में 40 कहानियां लिखीं और वे उर्दू एवं हिंदी दोनों भाषाओं में प्रकाशित हुईं। महात्मा गांधी के दक्षिण अफ्रीका से आने से पूर्व प्रेमचंद स्वामी विवेकानंद तथा स्वामी दयानंद के दलित-दर्शन से प्रभावित हो चुके थे और उन्हीं की प्रेरणा से उन्होंने दलित जीवन के उद्धार एवं उत्कर्ष के लिए कहानियां लिखना आरंभ किया। गांधी के आगमन से पूर्व देश में दलित-उत्थान का भाव उत्पन्न हो चुका था और इसका प्रमुख श्रेय इन दो संन्यासियों को ही था और साहित्य में इसका श्रेय प्रेमचंद को है जिन्होंने पहली बार साहित्य के माध्यम से दलित समाज की समस्याओं एवं उनके उद्धार की आवश्यकता पर अपनी कहानियों से देश का ध्यान आकर्षित किया। प्रेमचंद ने दलित, पीड़ित तथा शोषित की वकालत करने का जो व्रत लिखा था, वह हमें उनकी आरंभिक रचनाओं से ही दिखाई देता है।

प्रेमचंद की दलित कहानियों में उनकी पहली कहानी 'दोनों तरफ से' का ऐतिहासिक महत्त्व है। हिंदी उर्दू कहानी में दलित जीवन पर पहली कहानी लिखने का श्रेय प्रेमचंद को है। यह वह समय था जब समाज के वातावरण में दलित-चेतना का शुभारंभ हो रहा था और स्वामी विवेकानंद

के विचार समाचार-पत्रों एवं पत्रिकाओं के द्वारा शिक्षित समाज तक पहुंच रहे थे। जनता विदेशी दासता की जंजीरों में जकड़ी थी तथा शिक्षित समाज एवं साहित्य में सुधार की प्रवृत्ति जग चुकी थी। इसका एक प्रबल प्रमाण प्रेमचंद की कहानी 'दोनों तरफ से' है, जब एक तीस वर्षीय लेखक को यह सामाजिक हलचल उसे उद्वेलित कर रही थी और वह अछूतोद्धार पर पहली कहानी रच रहा था। यह कहानी मुख्यतः अछूतोद्धार की ही कहानी है। इस कहानी से प्रेमचंद-परिवार तथा आलोचक-गण अपरिचित थे। मैंने इसे उर्दू से खोजा तथा हिंदी लिप्यांतर प्रकाशित कराया तो हिंदी संसार को ज्ञान हुआ कि प्रेमचंद ने गांधी की प्रेरणा से अस्पृश्यता-निवारण का मार्ग नहीं अपनाया था, बल्कि उनके भारत आगमन से कुछ वर्ष पहले ही इस विषय पर पहली कहानी लिख चुके थे। इस प्रकार प्रेमचंद पर गांधी के प्रभाव को नई दृष्टि से देखना पड़ा और मेरे निष्कर्ष को मान्यता मिली कि स्वामी विवेकानंद के विचारों का इसकी रचना में योगदान है। प्रेमचंद ने इस कहानी की रचना से पूर्व स्वामी विवेकानंद पर उर्दू में एक लेख लिखा था जो 'जमाना' के मई, 1908 में प्रकाशित हुआ था। इसमें प्रेमचंद ने स्वामी विवेकानंद के गुणों तथा कार्यों की प्रशंसा की तथा लिखा कि नीची जातियों को उभारने तथा उन्हें भाई समझने पर बल देते थे। 'दोनों तरफ से' कहानी नीची जातियों के उद्धार की ही कहानी है। कहानी के नायक पंडित शांति स्वरूप तथा उनकी पत्नी कोलेसरी देवी दोनों कहानी के अंत में अछूतोद्धार में लग जाते हैं। पंडितजी अछूतोद्धार के लिए एक छोटी-सी संस्था खोलते हैं और गांवों में जाकर दलितों-डोमों के बीच बैठते हैं तथा अपनी हमदर्दी, सोहबत एवं विचारों से उनकी अनेक बुराइयों को दूर करते हैं। एक बार उनकी पत्नी दलितों के चौधरी की लड़की की शादी में दलितों के साथ खाना खाने पर नाराज हो जाती है और वे पत्नी के आग्रह पर उनके साथ खाना-पीना एवं मिलना-जुलना सब बंद कर देते हैं और वे झूठा बहाना करके गांवों में जाना छोड़ देते हैं। इससे उनकी पत्नी को आत्म-ग्लानि होती है और पति के बाहर जाने पर स्वयं भी अछूतोद्धार में लग जाती है। पंडितजी घर लौटने पर देखते हैं कि वह अछूतों की स्त्रियों एवं बच्चों की सेवा-सत्कार में लगी है तो वे पत्नी को गले लगा लेते हैं। वे दस गांवों में एक-एक हजार रुपये से कोठियां खोलते हैं जहां से अछूतों को बिना ब्याज के रुपये मिल सकेंगे। इस प्रकार यह कहानी हिंदी साहित्य में दलित-चेतना की उद्भावना करती है और उनके उत्थान और विकास के लिए सवर्णों की भागीदारी, मेल मिलाप एवं सामाजिक स्वीकृति तथा सम्मान के साथ उन्हें आर्थिक सहयोग पर बल देती है। यह प्रेमचंद का आरंभिक दलित-दर्शन है जिसमें वे दलित-समाज के उत्थान का एक विचार उपस्थित करते हैं। इसमें आर्थिक सहयोग का एक ऐसा विचार है जो महत्वपूर्ण है और प्रेमचंद इसे आरंभ से ही समझ रहे थे। यह एक नए विचार की कहानी है, जिसकी वैचारिक बुनियाद स्वामी दयानंद और स्वामी विवेकानंद ने रख दी थी। प्रेमचंद ब्राह्मण जमींदार और अछूत काश्तकारों के सम्मिलन, भाई-चारे और दलितों के उत्थान की कहानी से एक नए समाज की रचना करते हैं और वे उसे निरंतर पुष्ट एवं शक्तिवान बनाते चलते हैं।

प्रेमचंद की 911-20 के दशक में दलित जीवन पर आठ कहानियां हैं। 'दोनों तरफ से' की चर्चा हो चुकी है। इसके बाद उनकी कहानी 'सिर्फ एक आवाज' (अगस्त-सितंबर, 1913) प्रकाशित हुई जो पहली कहानी का ही विस्तार है। 'दोनों तरफ से' कहानी में जो साक्षात् घटित होता है, लेखक उसे और विस्तृत करता है तथा इसके लिए चंद्र-ग्रहण पर गंगा-स्नान के लिए जुड़ी भीड़ को एक संन्यासी से संबोधित कराता है। संन्यासी अछूतों की लज्जाजनक सांस्कृतिक स्थिति एवं उनके प्रति

घृणा और उपेक्षा के लिए समाज को दोषी मानते हुए कहता है- 'जिन लोगों की छाया से हम बचते आए हैं, जिन्हें हमने जानवरों से भी जलील समझ रखा है, उनसे गले मिलने में हमको त्याग और साहस और परमार्थ से काम लेना पड़ेगा। उस त्याग से जो कृष्ण में था, उस हिम्मत से जो राम में थी, उस परमार्थ से जो चैतन्य और गोविंद में था। मैं यह नहीं कहता कि आप आज ही उनसे शादी के रिश्ते जोड़ें या उनके साथ बैठकर खाएं-पिएं, मगर क्या यह भी मुमकिन नहीं कि आप उनके साथ सामान्य सहानुभूति, सामान्य मनुष्यता, सामान्य सदाचार से पेश आए।' इसके उपरांत संन्यासी उपस्थित शिक्षित समाज से यह प्रतिज्ञा करने को कहता है- 'आज से हम अछूतों के साथ भाई-चारे का सलूक करेंगे, उनके तीज-त्योहार में शरीक होंगे और अपने त्योहारों में उन्हें बुलाएंगे। उनसे गले मिलेंगे और उन्हें अपने गले लगाएंगे। उनकी खुशियों में खुश और उनके दर्द में दर्दमंद होंगे, और चाहे कुछ भी क्यों न हो जाए, चाहे तानों-रिश्तों और जिल्लत का सामना ही क्यों न करना पड़े, हम इस प्रतिज्ञा पर कायम करेंगे।' कहानी के अंत में एक देहाती किसान ठाकुर दर्शनसिंह ही इसकी प्रतिज्ञा करता है और वहां उपस्थित एक हजार आदमी मुर्दा और बेजान बन रहते हैं। प्रेमचंद इस प्रकार एक देहाती को जागरण का अग्रदूत बनाते हैं और अछूतोद्धार के अपने विचार को एक परिप्रेक्ष्य प्रदान करते हैं। 'बांका जमींदार' (अक्टूबर, 1913) कहानी बंजारों की है जो दलित ही हैं। कहानी में जमींदार और बंजारे किसानों का सीधा संघर्ष है और बंजारे जमींदार के गुंडों को पराजित करते हैं तथा जमींदार स्वेच्छा से जमींदारी के अधिकार छोड़ देता है। प्रेमचंद बंजारों को विद्रोह की तथा आत्म-सम्मान की शक्ति देते हैं और गुलामों की तरह नहीं मर्दों की तरह अपने अधिकारों की रक्षा करते हैं। प्रेमचंद दलित समाज को ऐसा ही स्वाभिमानी और विद्रोही बनाना चाहते हैं।

बीसवीं सदी के इस दूसरे दशक में उपरोक्त कहानियों के साथ 'अनाथ लड़की' (जून, 1914), 'खून सफेद' (जुलाई, 1914), 'अपनी करनी' (सितंबर-अक्टूबर, 1914), 'महातीर्थ' (सितंबर, 1917), तथा 'पशु से मनुष्य' (जनवरी, 1920) में भी दलित-विमर्श के नए-नए पक्ष उद्घाटित हुए हैं। 'अनाथ लड़की' (जून, 1914) की नायिका एक अनाथ लड़की है, पिता मर चुका है और मां कपड़े सीकर गुजारा करती है। समाज में किसी लड़की का अनाथ होना हर दृष्टि से दलित होना है। न कोई प्रतिष्ठा है, न कोई आर्थिक आधार है। प्रेमचंद ऐसी अनाथ लड़की को उसके गुणों के कारण उत्कर्ष तक पहुंचाते हैं। सेठ पुरुषोत्तम दास का उसे सहारा मिलता है और वह उनकी पुत्र-वधू बन जाती है। प्रेमचंद की अनाथ पात्रा दलितता से मुक्त होकर जीवन की नई ऊंचाई तक पहुंचती है। वे उसमें उत्कर्ष, उत्थान की चेतना उत्पन्न करते हैं। 'खून सफेद' (जुलाई, 1914) कहानी में अछूत समस्या, हिंदू समाज की न होकर, ईसाई बन जाने से उत्पन्न होती है। अकाल और भूख से पीड़ित किसान का बेटा साधो पादरी के बिस्कुट और केले के मोह में उसके साथ चला जाता है और चौदह वर्ष बाद पादरी बनकर घर लौटता है, किंतु वह छूआछूत और बिरादरी के भय से वापस पादरी-समाज में लौट जाता है। प्रेमचंद इसे हिंदू समाज का खून सफेद होना कहते हैं। उनकी ईसाई धर्मांतरण, हिंदू समाज की छुआछूत की प्रवृत्ति और नपुंसकता पर यह पहली कहानी है। स्वामी विवकानंद ने कहा था कि जो हिंदू ईसाई बन रहे हैं वे हमारे दोष के कारण बन रहे हैं। वे कहते हैं कि ईसाई को 'मलेच्छ' और स्वयं को 'आर्य' मानना गलत है। पादरी को मलेच्छ मानने से ही छुआछूत का विचार उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्रेमचंद दलित-विमर्श में एक छुआछूत का नया परिदृश्य खोलते हैं जो वर्तमान दलित-चेतना में कहीं दिखाई नहीं देता। अब अंग्रेजों, पादरियों आदि

को मलेच्छ मानने का विचार समाप्त हो चुका है। 'अपनी करनी' (सित.-अक्टू., 1914) कहानी में एक माली की बेटी वसीकेदार के भोग-वृत्ति और चालाकी से भरे प्रेम-जाल का शिकार बनती है, किंतु वसीकेदार को उसका दंड मिलता है। दलित समाज इस तरह बड़े लोगों के मनोरंजन और शोषण का लक्ष्य बनता है। 'महातीर्थ' (सितंबर, 1917) में एक बुढ़िया दाई है, निर्धन है, अशिक्षित है, दलित समाज की है, किंतु उसके मन में प्रेम और ममता का महातीर्थ है, जो बद्रीनाथ तीर्थ से भी बड़ा है। स्वामी विवेकानंद ने कहा था कि मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ मंदिर है तथा आत्मा ही एकमात्र उपास्य ईश्वर है। तीर्थ वह है, जहां शुद्ध मनुष्य, वस्तु एवं भावनाएं रहती हैं और ऐसा स्थान कहीं भी, किसी भी मनुष्य में हो सकता है। धर्म यह है कि मनुष्य शुद्ध रहे और दूसरों का सदैव भला करे। निर्धन, दुर्बल एवं रुग्ण व्यक्ति में जो शिव देखता है, वही सचमुच शिव की उपासना करता है। तीर्थ-यात्रा, प्रार्थना, पुरोहित इत्यादि आरंभ में ही उपयुक्त हैं, परंतु ईश्वर के प्रति सच्चे प्रेम के लिए निःस्वार्थ, निर्भय एवं मनुष्य से प्रेम आवश्यक है। कहानी की बुढ़िया दाई के मन में महातीर्थ है, जो निःस्वार्थ भाव से रुद्र से प्रेम करती है और उसकी सेवा-सुश्रुषा करती है। प्रेमचंद के दलित-विमर्श की यह विशेषता है कि वे ऐसा श्रेष्ठ मानवीय कार्य दाई जैसी दलित पात्रा से कराते हैं और उसे महातीर्थ का पुण्य मानते हैं। 'पशु से मनुष्य' (जनवरी, 1920) कहानी में एक माली है जिसका नाम दुर्गा है। वह चोरी के अपराध में निकाल दिया जाता है, किंतु वह जब प्रेमशंकर की सहकारी व्यवस्था का अंग बनता है तो वह मनुष्य के गुणों से संपन्न हो जाता है, अर्थात् एक पशु समान माली भी श्रेष्ठ मनुष्य बनकर सभी को प्रभावित कर सकता है। स्वामित्व और व्यवस्था बदलने पर माली अच्छे मनुष्य में बदल सकता है, यही कहानी का संदेश है।

बीसवीं सदी के तीसरे दशक (1921-31) में दलित जीवन पर 22 कहानियां प्रकाशित हुईं जो सर्वाधिक हैं और यह वह समय है जब गांधी-इर्विन पैक्ट नहीं हुआ था और गांधी का 'हरिजन' समाचार-पत्र भी प्रकाशित नहीं हुआ था। प्रेमचंद की दलित चिंता, राष्ट्रीय चिंता, स्वराज्य-चिंता और सामाजिक-सुधार एवं समाज को आधुनिक बनाने की स्वाभाविक चिंता थी, इस कारण वे प्रत्येक वर्ष लगभग दो कहानियां दलित जीवन पर लिख रहे थे। ये 22 कहानियां जनवरी, 1921 से 1930 के बीच प्रकाशित हुईं- 'रूहे हयात' (जनवरी, 1921), 'विध्वंस' (25, जुलाई, 1921), 'मूठ' (जनवरी, 1922), 'लोकमत का सम्मान' (अक्टूबर, 1922), 'सैलानी बंदर' (फरवरी, 1924), 'सौभाग्य के कोड़े' (जून, 1924), 'सवा सेर गेहूं' (नवंबर, 1924), 'सभ्यता का रहस्य' (फरवरी, 1925), 'शूद्रा' (दिसंबर, 1925), 'मंत्र' (फरवरी, 1926), 'कजाकी' (अप्रैल, 1926), 'लांछन' (अगस्त, 1926), 'मंदिर' (मई, 1927), मंत्र (मार्च, 1928), 'खुदी' (1928), 'प्रेम का उदय' (अगस्त, 1929), 'घासवाली' (दिसंबर, 1929), 'समर-यात्रा' (अप्रैल, 1930), 'मैकू' (जून, 1930), 'देवी' (1930), 'राष्ट्र का सेवक' (1930) तथा 'सद्गति' (1930)।

इस दशक की पहली कहानी है 'रूहे हयात'। यह हिंदी में अप्राप्य थी। कमल किशोर गोयनका ने इसे उर्दू से खोजा और हिंदी में प्रस्तुत किया। रूहे-हयात का अर्थ है जीवन की प्राण-शक्ति। गुजराती गांव की एक यतीम लड़की है, अनाथ, बिना मां-बाप की, कोई घर नहीं। दलित समाज में भी सबसे दलित, कोई तरस कर कुछ दे देता तो खा लेती, जहां नींद आती वहीं सो जाती। उसने होश संभाला तो सारे गांव की सेविका बनी। जीवन जंजाल न था, न कष्टपूर्ण, वह उसे जीती थी। बड़ी हुई तो गांव के लोगों ने शादी कर दी। वह विधवा हुई, अंधा बेटा साधु के साथ चला गया, फिर

भी वह धर्मशाला बनवाती है, रामायण सुनाती है, लड़कियों को पढ़ाती है, और उसे अपाहिज की तरह जीना अस्वीकार है। कहानी में एक दलित अनाथ लड़की जिजीविषा, जिंदादिली, कर्मशीलता, सेवा, बलिदान, परोपकार आदि उच्च मानवीय गुणों को अपने जीवन में उतारती है और ये गुण निर्धनता, निर्बलता, अनाथता, निस्सहायता आदि के कंटकाकीर्ण मार्ग से जन्म लेते हैं। प्रेमचंद ने गुजराती जैसी अनाथ एवं दलित लड़की का अविष्कार करके उसे उच्चता के शिखर तक पहुंचा दिया है। स्वामी विवेकानंद दलितों में ऐसी ही दिव्यता के दर्शन करते थे। 'विध्वंस' कहानी में विधवा, वृद्धा, संतानहीन, असहाय भुनगी है, जो भाड़ में अनाज भून कर पेट पालती है और जमींदार की बेगार करती है। वह गांव की एक दलित स्त्री है। वह जमींदार के क्रोध का शिकार बनती है, फिर भी भाड़ और झोंपड़ी छोड़ने को तैयार नहीं है। वह आग में कूदकर भस्म हो जाती है, लेकिन जमींदार की बखार और विशाल-भवन सब कुछ अग्नि-सागर में विलीन हो जाता है। प्रेमचंद यहां ईश्वरीय न्याय और गरीब की हाथ की नैतिकता का सहारा लेते हैं, किंतु कहानी दलित प्रतिशोध का भी संकेत करती है। प्रेमचंद की दलित-चेतना में यह नया परिप्रेक्ष्य है। 'मूठ' कहानी में जगिया महरी है, बुद्धू चौधरी है जो दलित समाज के ही अंग हैं। जगिया महरी चोटी करती है और बुद्धू चौधरी मूठ उतारने के नाम पर डॉक्टर को ठगता है। 'लोकमत का सम्मान' में बेचू धोबी है, जो बेईमानी के रास्ते से ईमानदारी के मार्ग पर आता है। बेचू में विवेक है, अच्छे-बुरे को समझता है और लोकमत उसे अच्छा आदमी बना देता है। 'सैलानी बंदर' में एक गरीब मदारी है, बुधिया मदारिन है और उनके पास मन्नू नामक बंदर है। ये गरीबी एवं असहायता तथा दलितता में भी बंदर से प्रेम करते हैं और उसके सहारे जीवन चलाते हैं। 'सौभाग्य के कोड़े' कहानी में नथुवा भंगी है, अनाथ है और राम भोलानाथ की कृपा पर जीवित है। नथुवा एक बाल-सुलभ अपराध में रायसाहब के हंटरो से पिटता है तो वह वहां से भागकर भंगियों के मौहल्ले में शरण पाता है और संगीत के आचार्य पद तक पहुंचता है और उसी राय साहब की बेटी रत्ना से उसका विवाह होता है। नथुवा दलित है, पीड़ित है, परंतु अपनी प्रतिमा से दलित जीवन से मुक्त होता है और रायसाहब का दामाद बनता है और प्रतिष्ठा, यश, धन सब प्राप्त करता है।

'सवा सेर गेहूं' एक महत्वपूर्ण कहानी है। कहानी में एक गरीब किसान है, दलितों का-सा जीवन है और सवा सेर गेहूं के चक्कर में सारा जीवन ब्राह्मण की गुलामी करता है। वह बीस वर्ष बेगार करता है और उसके मरने पर उसका बेटा गुलामी करता है। स्वामी विवेकानंद ऐसे ही ब्राह्मणों के कलयुगी राक्षस कहते हैं जिन्होंने दूसरी जातियों को नीच बना दिया है। इसी कारण ऐसे शोषित, दमित एवं पीड़ित किसान भी प्रेमचंद की दलित-चेतना को जाति तक सीमित न करके उसे विस्तृत बनाते हैं। कहानी में ब्राह्मण की सत्ता है, कहानी उसे चुनौती देती है। 'सभ्यता का रहस्य' कहानी में एक घसियारा है, दमड़ी उसका नाम है, गरीबी में दिन कटते हैं तथा अपने मालिक से अपमानित एवं दंडित होता है और दलित, निर्धन, अशिक्षित, देहाती होने के कारण घास की चोरी पर छः महीने की सख्त सजा पाता है। कहानी का प्रतिपाद्य है, यदि कोई शिक्षित, शहरी, पदाधिकारी है तो रिश्वत लेने के अपराध के दंड से बचा रहता है, किंतु दलित, निर्धन, देहाती छोटा-सा अपराध करने पर दंडित होता है। यह समाज की वास्तविकता है, जो आज भी विद्यमान है। 'शूद्रा' कहानी में गौरा शूद्र है, उसकी मां भाड़ झोंककर पेट पालती है और बिरादरी उसे हरजाई मानती है। गौरा और उसका पति मंगरू गिरमिटिया मजदूर की तरह धोखे से मारीशस पहुंचते हैं। गौरा गोरे मालिक से अपने पति



को बचाने का साहस करती है और पति की शंका पर नदी में डूबकर मर जाती है। मंगरू भी उसे बचाने के चक्कर में खुद भी डूब जाता है। कहानी में दलितों की यातना है, संकट में साहस और प्रतिरोध है तथा सतीत्व के लिए प्राणोत्सर्ग है। विदेश में भी दलित मानवीय भाव की रक्षा करते हैं। 'मंत्र' कहानी में अछूतों के इस्लामीकरण की समस्या है। हिंदू-सभा के समाज सुधारक पंडित लीलाधर चौबे दल-बल के साथ मद्रास पहुंचते हैं और वहां अछूतों के बीच व्याख्यान देते हुए उनमें आर्य-संतान होने का गर्व उत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं, किंतु एक बूढ़ा अछूत साथ में भोजन करने तथा शादी-ब्याह करने का प्रश्न करता है तो पंडितजी जन्म-संस्कार तथा आचार-व्यवहार बदलने पर जोर देते हैं और तभी उच्च वर्ण के हिंदुओं से मेल हो सकता है। बूढ़ा अछूत इस पर कुलीन ब्राह्मण और हिंदुत्व पर प्रश्न करता है जिनकी आत्मा मर चुकी है, इस कारण हमारे माथे से नीचता का कलंक न मिटेगा। बूढ़ा अछूत आगे कहता है, 'ऋषियों को मत बदनाम कीजिए। यह सब पाखंड आप लोगों का रचा हुआ है। आप कहते हैं, तुम मदिरा पीते हो, लेकिन आप मदिरा पीने वालों की जूतियों चाटते हैं। आप हमसे मांस खाने के कारण घिनाते हैं, लेकिन आप गो-मांस खाने वालों के सामने नाक रगड़ते हैं इसीलिए न कि वे आपसे बलवान हैं। हम भी आज राजा हो जाएं, तो आप हमारे सामने हाथ बांधे खड़े होंगे। आपके धर्म में वही ऊंचा है जो बलवान है, वही नीच है जो निर्बल है। यही आपका धर्म है।'।

'मंत्र' कहानी में यही बूढ़ा अछूत चौबेजी की सेवा करके उन्हें मौत के मुंह से बचाता है और पंडितजी भी बाद में प्लेग से पीड़ित इस बूढ़े अछूत चौधरी को दो अन्यों के साथ सेवा-सुश्रुषा से चंगा कर लेते हैं और मुल्लाओं का रंग फीका हो जाता है। लेखक लिखता है 'पंडितजी अब वह अपने ब्राह्मणत्व पर घमंड करने वाले पंडितजी न थे। उन्होंने शूद्रों और भीलों का आदर करना सीख लिया था। उन्हें छाती से लगाते हुए अब पंडितजी को घृणा न होती थी। अपना घर अंधेरा पाकर ही ये इस्लामी दीपक की ओर झुके थे। जब अपने घर में सूर्य का प्रकाश हो गया, तो इन्हें दूसरों के घर जाने की क्या जरूरत थी। सनातन धर्म की विजय हो गई।' पंडितजी ने चांडालों से यह मंत्र सीखा कि इन्हें शुद्ध करने से पहले मुझे अपने को शुद्ध करना चाहिए। अब पंडितजी भीलों के साथ रहते हैं। इस प्रकार कहानी में हिंदू धर्म पर अछूत-दर्शन तथा सेवा एवं मानव-धर्म की विजय है, अछूतों को प्रश्नकर्ता बनाती है और धर्मांतरण के विरुद्ध स्वधर्म-हिंदू धर्म में ही रहने का संदेश देती है। 'कजकी' का नायक पासी जाति का है, डाक-हरकारा है, दलित है, परंतु उसमें उच्चकोटि की ममता और मनुष्यता है। 'लांछन' में मुन्नु मेहतर है, पर वह चालाक, धूर्त और बदमाश है और स्त्रियों को फंसाने में सिद्धहस्त है। 'मंदिर' एक दलित मां, एक चमारिन के अपमान तथा उसकी ममता एवं आस्था पर गहरी चोट करने वाली तथा सवणों की धार्मिक तानाशाही, भेदभावपूर्ण अभद्रता एवं अमानवीयता की कहानी है। सुखिया बीमार पुत्र को स्वस्थ करने मंदिर में पूजा करने आती है तो भक्तजन उसे दुल्कारते हैं तो वह प्रश्न करती है, "क्या भगवान ने दलितों को नहीं सिरजा है? दलितों का भगवान कोई और है?" पुजारी सुखिया से पूजा-सामग्री और एक रुपया झटक लेता है, किंतु दर्शन नहीं करने देता। सुखिया रात को फिर मंदिर आती है, ईंट से मंदिर का दरवाजा तोड़ती है और भक्तों से लातों घूसों से पिटती है। उसका बच्चा जमीन पर गिरकर मर जाता है और सुखिया इन पापी एवं पाखंडी भक्तों के अछूतवाद की भर्त्सना करती है, मेरे छू लेने से ठाकुरजी की को छूत लग गई। पारस को छूकर लोहा, सोना हो जाता है, पारस लोहा नहीं हो जाता... बाल-बच्चे वाले होकर भी तुम्हें एक

अभागिनी माता पर दया न आई। जिस पर धरम के ठेकेदार बनते हो। तुम सबके-सब हत्यारे हो, निपट हत्यारे हो।' यह कहानी दलित-विमर्श की अब तक की कहानियों में सर्वश्रेष्ठ है, जो अछूतवाद के पोषक हिंदू मानसिकता से बड़े ज्वलंत प्रश्न करती है- दलितों के दर्शन-स्पर्श से ईश्वर कैसे भ्रष्ट हो जाएगा, दलितों (दलितों) का भगवान कोई और है, दलित भ्रष्ट हैं तो ईश्वर ने उन्हें क्यों पैदा किया, ठाकुरजी क्या धनवानों, सवर्णों के ही हैं और गरीबों-अवर्णों से उनका कोई नाता नहीं है, भगवान के दर्शन करने से रोकने वाले ये ठेकेदार कौन हैं, तुम पापी और हत्यारे हो। ये प्रश्न चमारिन सुखिया के हैं, स्वामी विवेकानंद, प्रेमचंद और गांधी के हैं, पर इनका कोई उत्तर नहीं है, लेकिन कहानी की व्यंजना है कि जातिगत भेदभाव ईश्वर ने नहीं मनुष्य ने बनाए हैं, अतः सवर्ण-अवर्ण का भेद एवं अछूतवाद अधार्मिक और अमानवीय है। सुखिया का मंदिर का ताला तोड़ना और भक्तों का फटकारना दलित-विमर्श में एक नए विद्रोह की शुरुआत है, जो लेखक की परानुभूति की जन्मी एक कलात्मक कहानी है।

'मंत्र' शीर्षक से यह दूसरी कहानी है। इसका नायक एक बूढ़ा, दलित भगत है, गरीबी इतनी कि घर में न चारपाई है, न बिछौना, एक कोने में पुआल पड़ी है, बुढ़िया दिन-भर सूखी लकड़ियां बटोरती है और बूढ़ा रस्सी बटकर बाजार में बेचता है। वह दलित समाज में सबसे निम्न स्तर पर है, परंतु मनुष्यता में वह शिक्षित समाज, डॉक्टर आदि से बहुत-बहुत ऊंचा है। प्रेमचंद बूढ़े दलित के जीवन-कर्म से जीने का मंत्र देते हैं, जो दूसरों के लिए जीना सिखाता है, तथा जो अहित करने वाले के प्रति भी सहृदय, संवेदनशील और मानवीय बनाता है। डॉक्टर शिक्षित है, पर परहित एवं सेवा से शून्य है, स्वार्थ और आमोद-प्रमोद है और मनुष्यता गायब है और उधर बूढ़ा दलित मनुष्यता का प्रतिरूप है और प्राण-रक्षा उसके लिए सबसे बड़ा धर्म है। यह बूढ़ा दलित भगत लेखक के दलित-विमर्श की बड़ी उपलब्धि है, यह मनुष्य में 'देवत्व' की छाया है। 'खुदी' कहानी में एक देहाती अनाथ स्त्री है, दलित है और उसका कोई नहीं है। वह एक मुसाफिर को दिल दे बैठती है और सत्तर वर्ष तक उसकी प्रतीक्षा करती है। इस प्रकार वह एकनिष्ठ प्रेम की उच्चता का उदाहरण है और यह उच्चता एवं आत्म-बोध एक दलित अनाथ स्त्री में ही जाग्रत होता है और लेखक इसे ही खुदी कहता है। 'प्रेम का उदय' कंजड़ों की कहानी है, जो समाज के निम्नतम वर्गों और जातियों में आते हैं। कंजड़ भी दलित ही हैं, चोरी-अपराध उनका कर्म-धर्म है, परंतु प्रेमचंद कंजड़ पात्रों में भी मनुष्यता का, प्रेम का तथा सेवा का उदय दिखाते हैं और उन्हें परंपरागत अपराध-प्रवृत्ति से मुक्त करते हैं। 'घासवाली' कहानी में चमारिन मुलिया नायिका है और वह रूपवती, पतिव्रता, परिश्रमी, स्वाभिमानी, साहसी, तर्कशील एवं सतीत्व-रक्षा में समर्थ है। वह दलित-समाज की एक नई दलित स्त्री का रूप है। वह दलित स्त्री को एक नई गरिमा और स्वाभिमान देती है और ऊंची जाति के शोहदों को ठीक करने का साहस करती है। वह प्रतिरोध और विद्रोह की नई शक्ति है जो शोहदे चैनासिंह तक को अच्छा मनुष्य बना देती है। वह निश्चय ही प्रेमचंद की एक बड़ी उपलब्धि है। वह दलित जाति की नई चेतना एवं नए अस्तित्व-बोध तथा आत्म-रक्षा की प्रतीक बनती है।

प्रेमचंद की वर्ष 1930 में दलित जीवन पर पांच कहानियां हैं। इनमें कुछ कहानियों में कुछ दलित चरित्र हैं तथा कुछ में प्रमुख रूप से दलित जीवन का चित्रण है। 'समर-यात्रा' कहानी यद्यपि स्वाधीनता संग्राम की कहानी है, किंतु उसमें नोहरी बुढ़िया है, निर्धन है, अकेली है, दानों की मुहताज है, लेकिन उसमें दारोगा को फटकारने की शक्ति है। उसकी वाणी में भारतीय जनता की अपराजेय



आवाज है और वह गांव की सबसे निम्न स्थिति की स्त्री का नया रूप है। उसकी आत्मा में विद्रोह है, वाणी में जुल्म के नाश होने का विश्वास है और क्षीण देह एवं झुर्रियों में उसका इतिहास है। 'मैकू' में मैकू शराबी है, गुंडा है, पर उसमें भी मानवीय ग्लानि का भाव है। 'देवी' कहानी में एक गरीब विधवा है, गरीबी और बेकसी की जिंदा तस्वीर, परंतु वह सड़क पर पड़े दस रुपए के नोट को खुद न रखकर भिखारी को दे देती है। उस जैसी गरीब औरत में भी एक नैतिकता है, पड़ा हुआ धन रखना पाप है और ऐसा धन उसके किस काम का। एक बहुत छोटी कहानी में भी एक अत्यंत असहाय दलित औरत भी प्रलोभन से मुक्त है। 'राष्ट्र का सेवक' में लेखक समाज-सुधारकों के अछूतोद्धार के कार्यों की वास्तविकता का उद्घाटन करते हैं। राष्ट्र के एक सेवक ने नीचों से भाई-चारे का नारा दिया, अछूत युवक को गले लगाया और मंदिर में ले गया और कहा कि हमारा देवता गरीबी में है, जिल्लत में है, पस्ती में है, किंतु वह अपनी पुत्री इंदिरा के उसी अछूत युवक से विवाह करने के प्रस्ताव पर क्रोधित हो उठता है। नेताओं का यह कथनी और करनी का अंतर अछूतोद्धार में एक बड़ी बाधा है। 'सद्गति' प्रेमचंद की दलित चेतना की कालजयी रचना है। इसमें ब्राह्मण का शोषण और दलित का भक्ति-भाव, बेगार और मरण एक-दूसरे के सामने है। 'सद्गति' में तीव्र व्यंग्य है। यह सद्गति की नहीं, ब्राह्मण द्वारा दलित की दुर्गति की कहानी है। सद्गति का एक अर्थ और है- दलित (दलित) की सद्गति ब्राह्मण के शोषण, बेगार और मृत्योन्मुख करने में है तथा ब्राह्मण की सद्गति शोषण और बेगार लेने की धार्मिक शक्ति में है। गांव में यदि एक ओर ब्राह्मण है और दूसरी ओर दलित (दलित) किसान तो दलित की दुर्गति क्रूरतम और भयंकर होती है। हिंदू वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ है, चाहे वह जड़ मूर्ख, स्वार्थी और क्रूर हो। गांव में उसकी सत्ता और शक्ति अनंत है, क्योंकि उसके यजमान निर्धन, मूर्ख, अशिक्षित, भीरु और भोले-भाले इंसान हैं। गांव में ब्राह्मण का एक छत्र साम्राज्य है और उसका शासन धर्म के भय से चलता है। दुःखी मानता है कि दलित मूर्ख न होते तो लात क्यों खाते। 'सद्गति' कहानी 'कफन' से भी अधिक क्रूर, भयानक और डरावनी है और दलित का शोषण चरम पर है। कहानी में भक्ति, सेवा और निष्ठा तथा सद्गति शब्द हाहाकार करते प्रतीत होते हैं। कहानी की ब्राह्मण व्यवस्था दुःखी को लाश में बदलकर पशु-पक्षियों को खाने के लिए छोड़ देती है। ऐसी व्यवस्था का नष्ट होना आवश्यक है। स्वामी विवेकानंद ने ऐसे ब्राह्मणों, पुरोहितों को कलियुगी रक्त-पिपासु राक्षस कहा था और गरीब, निर्धन दलित, किसान आदि के शोषण एवं उत्पीड़न पर नष्ट होने की चेतावनी दी थी।

बीसवीं सदी के चौथे दशक में दलित जीवन से संबंधित दस कहानियां हैं- 'खेल' (अप्रैल, 1931), 'तावान' (सितंबर, 1931), 'ठाकुर का कुंआ' (24 अगस्त, 1932), 'रोशनी' (नवंबर, 1932), 'गुल्ली-डंडा' (फरवरी, 1933), 'बालक' (अप्रैल, 1933), 'दूध का दाम' (जुलाई, 1934), 'देवी' (अप्रैल, 1935), 'कफन' (दिसंबर, 1935) तथा 'जुरमाना' (1936)। 'खेल' कहानी उर्दू में छपी थी और प्रेमचंद ने इसका हिंदीकरण नहीं किया। कमल किशोर गोयनका ने इसका हिंदी लिप्यंतरण किया और 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' तथा 'प्रेमचंद : कहानी रचनावली', खंड-5 में प्रकाशित कराया। 'खेल' गांव के निर्धन बच्चों की कहानी है। इनके पास खोंचेवाले से चीज खरीदने के लिए पैसे नहीं हैं और वे ईट-पत्थर के पैसे बनाकर खरीदने एवं आनंद लेने का नाटक करते हैं। ये अभावग्रस्त बच्चे अभाव में भी सुख ढूंढ लेते हैं, जो उच्च वर्ण के बच्चों के लिए संभव न था। प्रेमचंद गांव के गरीब-से-गरीब बच्चों में भी जीवन का आनंद भर देते हैं। 'तावान' में एक नए प्रकार

का शोषण है। कहानी में छकोड़ीलाल कपड़े का व्यापारी है, विदेशी कपड़ा बेचता है और कांग्रेसी स्वयं सेवक उसकी पिकेटिंग करते हैं तथा पकड़े जाने पर कांग्रेस कमेटी 101 रुपए का जुर्माना लगाती है। वह बरबाद हो जाता है, दो दिन चूल्हा नहीं जलता है, पत्नी बीमार है। इस प्रकार कांग्रेस कमेटी उसे तबाह कर देती है, उसकी दशा दलित से भी बुरी है, फिर भी उसकी पत्नी अंबा देश के लिए बाल-बच्चों को भूखों मरने के लिए तैयार है। प्रेमचंद भयंकर गरीबी, बीमारी और असहायता में भी देश-प्रेम की ज्वाला को जलाए रखते हैं। उनके उच्च वर्ग के पात्रों में ऐसा देश-प्रेम, त्याग और बलिदान दिखाई नहीं देता है। गांधी के स्वाधीनता आंदोलन में कितने ऐसे छोटे-छोटे व्यापारी बरबाद हो गए, इसकी जानकारी इन कहानियों से ही मिलती है। 'ठाकुर का कुंआ' छोटी कहानी होने पर भी दलित यातना की बड़ी कहानी है और इसकी रचना स्वानुभूति से नहीं परानुभूति से होती है। जाति, धर्म, संप्रदाय आदि से जुड़े बिना भी कालजयी रचना की जा सकती है। यह मनुष्य की व्यथा की कहानी है जो मनुष्य को मनुष्य द्वारा दी गई है। प्रेमचंद की ऐसी दर्दभरी मार्मिक कहानियां वे हैं, जिनमें संसार का निर्धनतम तथा लघुतम मनुष्य अपने ही भाई-बंधों के क्रूरतम भेदभाव, शोषण, अनाचार एवं अन्याय के कारण पानी जैसी नैसर्गिक वस्तु से वंचित है, अपने परिश्रम से खेत में उपजाई फसल से वंचित है, भर पेट भोजन से वंचित है, भाड़ चलाकर पेट भरने वाली बुढ़िया झोंपड़ी के लिए एक छोटे-से जमीन के टुकड़े से वंचित है तथा भूखे पेट ब्राह्मण की बेगार करते हुए मरने के लिए विवश है। कहानी की कथावस्तु और संरचना दलित समाज के प्रति जघन्यतम एवं क्रूरतम व्यवहार का जीवंत प्रमाण है। गंगी इस छूआछूत के विरुद्ध उठने वाली आधुनिक आवाज है। यह ठीक है, वह हारती है, जोखू गंदा पानी पीता है, परंतु यह कहानी उच्च जातियों के महलों की बुनियाद को हिला देती है। कहानी में लेखक की तटस्थता और घटना-संयोजन में यथार्थता उसे और भी मार्मिक एवं हृदयद्रावक बना देती है। 'रोशनी' में प्रेमचंद एक विधवा, देहातिन घसियारिन औरत को रोशनी का केंद्र बनाते हैं। वह विधवा है, घास काटकर दो बच्चों को पालती है। वह निर्धन है और एक प्रकार से अकेली है। वह दलित वर्ग में आती है, परंतु वह एक अंग्रेजी सभ्यता एवं जीवन-शैली के भक्त तथा इंग्लैंड से आई.सी.एस. का इम्तिहान पास करके भारत लौटे हिंदुस्तानी अफसर को अपने स्वाभिमान, साहस, कर्तव्य-पालन एवं ईश्वर-विश्वास से जीवन की नई रोशनी देती है और उसका मानसिक कायाकल्प करती है तथा वह उसे देवी मानने लगता है। वह हिंदुस्तानी अफसर, जो कहानी का नेरेटर है, स्वयं एक अंधे को पानी में डूबने से बचाता है और एक भिन्न प्रकार की खुशी का अनुभव करता है। उस देहाती औरत ने उसे जीवन की वह रोशनी दी है, जो सेवा और स्वाभिमान से निकलती है। वह भयंकर तूफान में हिंदुस्तानी अफसर की मदद करती है और भीख लेना अस्वीकार करती है। वह भारतीय स्वाभिमान और परमार्थ का प्रतीक बनती है और वह हिंदुस्तानी अफसर का हृदय ही नहीं उसकी पूरी सोच एवं जीवन-शैली बदल देती है। प्रेमचंद का यही मानवीय धर्म है और यही उनकी भारतीय है जो एक हिंदुस्तानी अफसर को, जो अंग्रेजी सभ्यता के रंग में भारत लौटा है और जो हिंदुस्तानी तहजीब, रहन-सहन, धर्म-शिक्षा आदि सभी को पिछड़ा और जड़ मानता है, भारतीय जीवन-मूल्यों एवं दलितों के जीवन-चरित्रों की श्रेष्ठता से परिचित कराता है।

इस दशक की शेष कहानियों में पहली कहानी है- 'गुल्ली डंडा'। यह कहानी गुल्ली-डंडा खेल पर है, परंतु यह मुख्यतः दलित (गया) और थानेदार के बेटे की कहानी है। एक उच्च वर्ण का है तथा दूसरा दलित है, दलित है और निम्न वर्ण का है। गुल्ली-डंडा प्रतीकात्मक है, गुल्ली निम्न वर्ण

निम्न पद, निम्न दशा और निम्न आकार की है और डंडा उच्च वर्ण, उच्च पद, उच्च शिक्षा एवं उच्च आकार का है। डंडा गुल्ली को उछालता है और उसे बार-बार पीटते हुए उसे दूर-दूर तक फेंकता है। गुल्ली इतनी छोटी और कमजोर है कि वह डंडे के इच्छानुसार नाचती, घूमती, भागती और पीटती रहती है। गुल्ली की यही त्रासदी है कि वह डंडे की दासी है और उसके संकेत पर नाचती है। गुल्ली डंडे की शक्ति के सम्मुख असहाय है, किंतु डंडे के अत्याचार से लड़ने की एक अंतिम शक्ति उसके पास है। गुल्ली यदि ठीक निशाना बनाकर डंडे पर गिरती है तो डंडे का खिलाड़ी आउट हो जाता है और गुल्ली को पीटने से मुक्ति मिलती है। गुल्ली के समान दलित व्यक्ति की स्थिति है। दलित बार-बार उच्च वर्ग से हारता है, अपमानित होता है, परंतु मनुष्यता में कथावाचक (उच्च वर्ण) हारता है, और दलित गया जीतता है। कहानी में गुल्ली जीतती है, मनुष्यता में, सद्व्यवहार में, सम्मान देने में। प्रेमचंद पुनः दलित गया को श्रेष्ठ मनुष्य बनाते हैं और उच्च वर्णीय कथावाचक बौना बन जाता है। ‘बालक’ कहानी में गंगू यद्यपि ब्राह्मण है, किंतु गरीब है, गंवार है और मामूली नौकर है एवं निम्न वर्ग में आता है। वह एक तीन पतियों को छोड़ने वाली दुष्टा स्त्री से शादी करता है और वह गोमती के विवाह के छह महीने बाद उत्पन्न बच्चे को अपनी संतान मानकर स्वीकार करता है। वह जिस किसानी तर्क से नवजात शिशु को अपनाता है, वह गंगू को एक अत्यंत साधारण व्यक्ति को महान बना देता है। ‘दूध का दाम’ मूंगी भंगिन और भंगी मंगल के दलित होने की दर्दनाक कहानी है जो दुर्दशा, अपमान, तिरस्कार, छुआछूत एवं पीड़क भूख से भरी पड़ी है। इसमें हिंदू समाज की स्वार्थपरता तथा क्रूर एवं अमानवीय अस्पृश्यता का घिनौना चित्र है। मोटेराम शास्त्री धर्म के इस रूप का उद्घाटन करता है। मंगल का जीवन जूठन, अपमान और छुआछूत का साक्षात् प्रमाण है। मां के दूध का यही ईनाम उसे मिलता है। ‘देवी’ कहानी में तुलिया दलित (चमारिन) है, सुंदरी है, किंतु विवाह के बाद पति परदेस चला गया तो कभी नहीं लौटा। वह जीवन-पर्यन्त पति की प्रतीक्षा करती रही, और सतीत्व की रक्षा भी करती रही। प्रेमचंद चमारिन तुलिया में देवत्व को खोजकर उसे उजागर करते हैं। वह प्रेमियों के प्रस्ताव को ठुकराती है, ठकुराइन को आश्रय देती है और उसकी संपत्ति गिरधर से लौटवाती है। लेखक उसे ‘देवी’ के रूप में प्रतिष्ठित करता है।

‘कफन’ कहानी के कथानायक घीसू और माधव हैं, दलित दलित हैं, निकम्मे और कामचोर, गरीब और फटेहाल, कर्जदार परंतु सांसारिक चिंताओं से मुक्त, प्रसव-वेदना से चीखती औरत को मरने देना और कफन के पैसों से शराब पीना। दलितों को इस रूप में दिखाने के कारण दलित लेखक इस कहानी और कहानीकार दोनों को दलित-विरोधी मानते हैं, लेकिन किसी काल्पनिक कहानी में किसी पात्र के अवगुणी अथवा गुणी होने से समाज में उसकी जाति के सभी लोग अवगुणी या गुणी कैसे हो सकते हैं? कहानी कल्पना से जन्मती है, उसके पात्र काल्पनिक होते हैं, अतः किसी पात्र का चरित्र उसकी जाति-धर्म का प्रतिरूप नहीं हो सकता। ‘कफन’ कहानी की अनेक दृष्टि से व्याख्या हुई है, किंतु मेरी दृष्टि में यह मृत्यु पर जीवन की विजय की कहानी है। घीसू और माधव कफन के पैसों से अपने जीवन की सबसे बड़ी लालसा पूरी करते हैं। वे मयखाने में बैठकर शराब पीते हैं, खूब खाते हैं और आनंद की अनुभूति में आत्म-विस्तृत होकर नाचने-गाने लगते हैं और गिर पड़ते हैं। कहानी में, उसकी घटनावली में कथा इसी रूप में विकसित होती है। वे अपने पाप-कर्म को दर्शन-धर्म की शब्दावली के प्रयोग से निष्प्रभावी बना लेते हैं। अतः ‘कफन’ को दलित-विरोधी कहानी कहने का कोई औचित्य नहीं है, जबकि कहानी में मौत और कफन के परिवेश में उसके पात्र, चाहे

कुछ क्षणों के लिए ही सही, अपनी चिर लालसा को तृप्त करते हैं और आनंद-विभोर होकर नाचने लगते हैं। उनकी यह लालसा कफन के पैसों से ही पूरी हो सकती थी, क्योंकि उतने पैसे उनके हाथ में कभी नहीं आने वाले थे। प्रेमचंद की अंतिम कहानी 'जुरमाना' है। इसमें अलारखी मेहतारानी है, पर वह न कामचोर है, न बेअदब, न फूहड़। लेखक ने उसका चरित्र वास्तविक बनाया है और उसका पश्चाताप उसे अच्छी औरत बनाता है।

प्रेमचंद की दलित जीवन की इन चालीस कहानियों ने उन्हें हिंदी-उर्दू में दलित जीवन के प्रथम कहानीकार तथा दलित समाज की त्रासदी, यातना और समस्याओं को अधिकतम कोणों के साथ अधिकतम कहानियों के रचनाकार के रूप में स्थापित कर दिया है। हिंदी का पराधीनता तथा स्वाधीन भारत का कोई एक ऐसा कहानीकार नहीं है जिसने चालीस कहानियों में दलित पीड़ा को उद्घाटित करने का कार्य किया हो। प्रेमचंद के इस योगदान को रेखांकित करना आवश्यक है कि उन्होंने गांधी और अंबेडकर के भारतीय रंगमंच पर आने से पहले ही मार्च, 1911 में 'दोनों तरफ से' दलित कहानी लिखकर दलित-विमर्श का साहित्य में शुभारंभ कर दिया था। स्वामी दयानंद और स्वामी विवेकानंद ने दलितोत्थान को युग-धर्म से जोड़ दिया था और प्रेमचंद ने इसे अपने साहित्य-धर्म एवं राष्ट्र-धर्म में अंतर्भूत करके दलितों की चुप्पी को तोड़कर उसे बुलंद आवाज में बदल दिया और स्वराज्य के लिए दलित-विमर्श को एक अनिवार्य विमर्श बना दिया। हमारे वर्तमान दलित लेखक प्रेमचंद को दलित-विरोधी मानते हैं, क्योंकि वे गांधी के अनुयायी हैं और दलित लेखक अंबेडकर के अनुयायी हैं और अंबेडकर गांधी के दलितोत्थान के विरोधी थे, किंतु दलित लेखकों को समझना चाहिए कि अंबेडकर के आविर्भाव से पहले ही प्रेमचंद दलितोत्थान का कार्य शुरू कर चुके थे और वे सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि सभी दृष्टियों से उनका कायाकल्प करना चाहते थे। दलित लेखक अंबेडकर को गुरु मानें, क्यों इसमें किसी को आपत्ति होगी, किंतु वे प्रेमचंद के दलित-विमर्श के बहिष्कार और आलोचना से एक मजबूत परंपरा से स्वयं को वंचित कर रहे हैं। प्रेमचंद के दलित-विमर्श से नाता जोड़कर, उन्हें साहित्य में दलित-चेतना का प्रवर्तक मानकर तथा उनकी दलित संवेदनाओं के मर्म को आत्मसात करके ही वे अपनी दलित चिंताओं और सरोकारों को और भी प्रभावशाली तथा स्वीकार्य बना सकते हैं।

प्रेमचंद का दलित-विमर्श व्यापक और वैविध्यपूर्ण है। इसमें केवल अस्पृश्य जातियों का ही दर्द नहीं है, बल्कि वे सब निम्न जातियां हैं जो दलित समाज का अंग हैं। इस संबंध में स्वामी विवेकानंद की जो दृष्टि थी, वही प्रेमचंद की है। प्रेमचंद के दलित-विमर्श में-दलित, भंगी, डोम, बंजारे, अनाथ, दाई, माली, गोंडिन, भुनगी, कहारिन, धोबी, मदारी-मदारिन, घसियारा, शूद्र, हरकारा, भगत, कंचड़, गरीब, गुंडा, घसियारिन, नौकर आदि अनेक निम्न जातियों का समाज है और उनके पात्र एवं उनके घर-परिवार तथा जीवन की कहानियां हैं। यह बड़ा व्यापक संसार है। इसमें तिरस्कृत, पीड़ित, शोषित, दमित सभी नीच जातियां हैं, वे चाहे अस्पृश्य हैं या स्पृश्य, पर वे सभी दलित हैं। प्रेमचंद ने 'प्रगतिशील लेखक संघ' के भाषण में कहा था कि साहित्य का धर्म पीड़ित, शोषित, दमित की वकालत करना है और उनका पक्ष समाज के सामने रखना है। संपूर्ण दलित जातियों का ऐसा ही जीवन था। निराला इनकी संगठित शक्ति को 'शूद्र शक्ति' कहते थे और यही संगठित शक्ति अंधेरे के ताले को खोलेगी- 'धोबी, पासी, दलित, तेली/ खोलेंगे अंधेरे का ताला/एक पाठ पढ़ेंगे टाट बिछाओ।' कोई एक जाति अकेले मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकती। दलितों की संयुक्त शक्ति ही उन्हें

सवर्णों के अत्याचारों से मुक्त कर सकती है। प्रेमचंद का 'हरिजन' शब्द भी इसी का प्रतीक था, यद्यपि आज उसका प्रयोग वर्जित है। 'दलित' शब्द भी समग्र निम्न जातियों का प्रतीक है। वर्तमान दलित लेखकों ने दलित-विमर्श को सीमित कर दिया है। वे अपनी जाति, धर्म, क्षेत्र तक सीमित हो गए हैं, जबकि लेखक सीमाओं को तोड़ने के लिए पैदा होता है। दलित लेखकों को अपने जातिगत सीमित सरोकारों एवं पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर सभी जातियों, धर्मों के पाठकों के लिए स्वीकृत होना पड़ेगा, अन्यथा उनकी सामाजिक स्वीकृति भी सीमित हो जाएगी और दूसरी जातियों के पाठकों की संख्या में भी कमी होती जाएगी। दलित लेखक केवल अपने समाज, अपनी जाति का ही प्रवक्ता क्यों बने? वह सब का प्रवक्ता तथा सब का पक्षधर बनकर ही समाज से व्यापक स्वीकृति पा सकता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि जिनकी 'जूठन' आत्मकथा, को तीन कविता-संग्रह-'सदियों का संताप', 'बहस! बहुत हो चुका' तथा 'अब और नहीं, तीन कहानी-संग्रह-'सलाम', 'घुसपैठिए' तथा 'छतरी' तथा तीन आलोचनात्मक पुस्तकें- 'मुख्य-धारा और दलित साहित्य', 'दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र' एवं 'दलित साहित्य-अनुभव, संघर्ष और यथार्थ' तथा 'सफाई देवता' आदि रचनाओं से दलित-विमर्श को व्यापक और अनिवार्य बनाया, दलित सौंदर्य-शास्त्र की रूप-रचना की तथा प्रेमचंद के साथ सवर्णों के ईमानदार सहयोग को स्वीकार किया, दलित-विमर्श का एक उत्तम उदाहरण हो सकता है। उन्होंने दलित साहित्य की सीमाओं का विस्तार करके तथा उसे अधिक से अधिक लोकतांत्रिक एवं सर्वस्वीकृत बनाने के लिए जो कार्य किया है, वह साहित्य की मानवतावादी परंपरा को और अधिक सशक्त एवं स्थायी बनाएगी ओमप्रकाश वाल्मीकि के देहावसान (नवंबर, 2013) के बाद जो लेख समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुए हैं उनमें उन्हें 'दलित चित्त का चितेरा', 'समता के पैरोकार', 'दलित सौंदर्य-शास्त्र के प्रवक्ता एवं मानवता के विस्तारक', 'दलितों के पक्ष में एक मजबूत आवाज' आदि के रूप में उन्हें स्मरण किया गया है। राजस्थान के दलित लेखक रत्नकुमार सांभरिया के दलित चिंतन और रचनात्मकता में भी दलित-नीति का विस्तार है। वाल्मीकि हों या सांभरिया, सभी दलित अस्मिता के लिए संघर्षशील हैं, परंतु सांभरिया ने दलित को केवल जाति तक सीमित नहीं किया है। सांभरिया ने 'दलित समाज की कहानियां' पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि जो दलित केवल जाति से हैं, परंतु धनी और यशवान हैं, वे दलित कहानी के पात्र नहीं हो सकते, परंतु जो उपेक्षित, निर्धन, अशिक्षित, शोषित वर्गों के हैं, चाहे वे दलित समाज के न हों, चाहे वे किसान, मजदूर, खानाबदोश क्यों न हों, वे सब दलित साहित्य के अंग हो सकते हैं। सांभरिया एक और महत्वपूर्ण बात कहते हैं। सांभरिया कहते हैं कि दलित लेखकों को अतीत की भूख, विद्रूपता, अपमान, अभाव, अंधविश्वास आदि की क्रूर त्रासदियों एवं दर्दनाक प्रसंगों के चित्रण से बचना चाहिए, क्योंकि दलित समाज का इनसे पीछा छुड़ाना आवश्यक है। वह चाहते हैं कि दलित लेखक अपने दलित पात्रों को संघर्षशील दिखाते हुए उन्हें सामाजिक उत्कर्ष, चारित्रिक उज्वलता, नायकत्व एवं आदर्श रूप में स्थापित करें। वे दलित आत्मा और गरिमा की रक्षा के लिए दलित कहानी में कुरूपता, अश्लीलता, विद्रूपता, क्रोध-आक्रोश, व्यंग्यात्मकता के लिए मुक्ति चाहते हैं और इस प्रकार वे प्रेमचंद के दलित-विमर्श के उस दृष्टिकोण को अपनाने पर बल दे रहे हैं जिसमें यातना-अत्याचार-अपमान के जीवन में भी मनुष्यता का, मानवीय गुणों का एवं दरिद्र-नारायण के नारायणत्व-देवत्व का प्रकाश दिखाई देता है।

प्रेमचंद के दलित-विमर्श में सर्वप्रथम यह समझना आवश्यक है कि उनकी कहानियां परानुभूति

की कहानियां हैं, जिनमें स्वानुभूति का-सा दर्द, प्रश्न, विद्रोह तथा घनघोर अवमानना एवं मूलभूत मानवाधिकारों का हनन है। यह उनकी परानुभूति का ही कमाल है कि वे 'महातीर्थ', 'सवा सेर गेहूं', 'मंदिर', 'मंत्र', 'घासवाली', 'सद्गति', 'खेल', 'ठाकुर का कुंआ', 'गुल्ली-डंडा', 'कफन' जैसी कालजयी कहानियों की रचना कर पाए, जबकि कुछ आलोचकों का मानना है कि स्वानुभूति के बावजूद दलित कहानीकार ऐसी एक भी कहानी नहीं रच पाए। प्रेमचंद के दलित पात्रों में यातना और दमन की चरमावस्था है, किंतु उनके दलित पात्रों में अपराधी प्रवृत्ति तथा असामाजिक क्रिया-कलाप लगभग नहीं हैं, अर्थात् वे अपराधी नहीं हैं, वे उस तरह के निकम्मे, परजीवी, आलसी और निठल्ले नहीं हैं, जैसा कि धर्मवीर का निष्कर्ष है, बल्कि उनमें अपनी परिस्थितियों से ऊंचे उठने और मनुष्यता के रास्ते पर चलकर स्वयं ही अपना आत्म-विकास, आत्म-उत्कर्ष एवं दूसरों के हित में खड़े होने तथा सहायक बनने का साहस है। 'सद्गति' कहानी में दलित की दुर्दशा इससे भयानक क्या होगी, 'मंत्र' कहानी के बूढ़े भगत की डॉक्टर के घोर अमानवीय व्यवहार को क्षमा करके उसके पुत्र की सर्पदंश से रक्षा के कर्म से भी कोई ऊंचा मानव-व्यवहार क्या होगा, 'मंदिर' कहानी की चमारिन सुखिया के मंदिर का ताला तोड़ने से बड़ा विद्रोह क्या होगा, 'विध्वंस' कहानी की भुनगी के अग्नि-कुंड में स्वयं को भस्म करके जमींदार के भवन-भंडार को भस्म करने से बड़ा प्रतिरोध और विरोध क्या होगा, 'घासवाली' कहानी में चमारिन मुलिया की दलित स्त्री की अस्मिता की रक्षा, पातिव्रत, कर्मण्यता, और ठाकुर को सद्मार्ग पर लाने से बड़ा क्या कोई दलित स्त्री-दर्शन हो सकता है, 'मंत्र' कहानी में अछूत बूढ़े के द्वारा हिंदू जाति के दलितोद्धार पर उठाए गए प्रश्न और विद्रोह क्या निरर्थक और महत्त्वहीन हैं तथा कहानियों में बूढ़े अछूत की मानव-सेवा से बड़ी क्या कोई सेवा हो सकती है, और अनाथ, असहाय, निर्धन, अशिक्षित दलित लड़कियों का अपनी कर्मठता, जीवटता, जिजीविषा, कार्यकुशलता एवं परहित कातरता से जीवन की ऊंचाइयों तक पहुंचने से बड़ा क्या कोई आत्म विकास एवं उत्कर्ष हो सकता है? प्रेमचंद का दलित-विमर्श इस प्रकार युग के दलित जीवन को यातना के नर्क से निकालकर मनुष्यता के स्वर्ग तक ले जाता है, उसे नई दिशा और जीवन का नया आलोक देते हैं और कीचड़ जैसे जीवन में उत्कर्ष का और आत्मोत्थान का नया कमल खिलाने हैं। प्रेमचंद ने अपने दलित पात्रों में अमानवीय एवं अस्वीकार्य परिस्थितियों से टकराने की ताकत दी है, उनमें प्रश्न करने और अस्वीकार करने की ऊर्जा दी है तथा कभी-कभी विरोध, प्रतिरोध और सीधे संघर्ष की संकल्प-शक्ति दी है। ये दलित पात्र नीच जातियों के हैं, निम्न वर्ग के हैं, लेकिन आदमीयत में नीचे नहीं हैं। वे पतनोन्मुख एवं अधोगामी न होकर उत्थानोन्मुख और उर्ध्वगामी हैं। उनके कई दलित पात्र मनुष्यता, सेवा, क्षमा, सद्भाव, सहिष्णुता के श्रेष्ठ प्रमाण हैं। प्रेम जैसे भाव में भी दलित पात्र निष्ठा और समर्पण में अप्रतिम उदाहरण हैं।

इस प्रकार प्रेमचंद ने दलित जीवन का एक व्यापक एवं विविधतापूर्ण बिंब निर्मित करके उसे एक सौंदर्य-शास्त्र दिया जो झोंपड़ी और पसीने में तथा यातना एवं शोषण में भी मानवीय सौंदर्य का उदय हो सकता था। वर्तमान दलित लेखकों के समान बदबू, जूठन, भूख आदि में ही दलित सौंदर्य नहीं था, बल्कि इन्हें भोगने वाले दलितों के मन में मानव-भाव अर्थात् मानवीयता के सौंदर्य की सृष्टि करना भी था। प्रेमचंद के पास एक संपूर्ण दलित दर्शन था-दलित जीवन के यथार्थ के साथ जीवन को उत्कर्षपूर्ण एवं आदर्शपूर्ण बनाना। प्रेमचंद ने अपने दलित-विमर्श को वर्ण एवं जाति-विद्वेष, सवर्ण पर आक्रमण एवं ब्राह्मणवाद तक सीमित नहीं किया, बल्कि श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों तथा उन तक पहुंचने



तथा जीवन में उन्हें उतारने के दलित प्रयासों को भी उसका अंग बनाया। आज दलित लेखक आरक्षण एवं सत्ता की राजनीति में उलझे हैं, इससे समाज में जातिवाद बढ़ा है और कट्टरता आई है। कृष्णदत्त पालीवाल के मतानुसार आज दलित लेखकों में विचारधारा का अभाव है, सत्ता के लिए सिद्धांतहीन गठबंधन है और धुरीविहीन आंदोलन है तथा स्वानुभूति एवं परानुभूति का विभाजन निरर्थक और अनावश्यक है। 'जनसत्ता', दिल्ली (10 नवंबर, 2013) में प्रकाशित एक लेख के अनुसार दलित लेखक सवर्णों को आज भी अपराधी मानते हैं, क्योंकि वे दलित साहित्य पर भरपूर पी-एच.डी. नहीं कराते और उनकी किताबें भी नहीं खरीदते और सब सवर्ण साहित्य तो कूड़ा करकट है ही। दलित लेखकों की ऐसी मांगों से दलित चिंतन में एक ठहराव आ गया है और दलित साहित्य की सर्वमान्य स्वीकृति को भी आघात लगा है।

अंत में, प्रेमचंद का दलित-दर्शन वर्तमान दलित लेखकों के लिए मार्ग-दर्शन का काम कर सकता है। यह आवश्यक नहीं, प्रेमचंद की नकल की जाए, परंतु सहानुभूति से उनके दलित-विमर्श को समझा-पढ़ा जाना चाहिए। दलित लेखक अंबेडकर को मार्ग-दर्शक मानें, लेकिन अतिवाद से मुक्त हों। सवर्ण साहित्य और हजारों वर्षों की साहित्यिक परंपरा के बहिष्कार का कोई अर्थ नहीं है। साहित्य में एकाएक कोई स्वायत्त धारा प्रकट नहीं होती। इसी कारण द्विज साहित्य और दलित साहित्य का विभाजन भी औचित्यहीन है। स्वानुभूति और परानुभूति की रचनाधर्मिता भी साहित्य की धारा को खंडित करती है और उसे जाति, धर्म, भाषा आदि कटघरों में बंद करके सीमित करती है। साहित्य सीमितता में जीवित नहीं रहता, उसे स्वीकृति के लिए व्यापक परिदृश्य चाहिए। यदि दलित लेखक जाति-दंश से मुक्ति चाहते हैं तो गैरदलितों को साथ लेकर चलना होगा। अब इस पर भी बहस है कि दलित ही दलित साहित्य लिख सकता है तथा पूर्वजों के शोषण-दमन के लिए सवर्णों की वर्तमान पीढ़ियों को कब तक दोषी माना जाएगा। प्रेमचंद के दलित-विमर्श में ये सारे प्रश्न गायब हैं, क्योंकि मानवीय दमन से मुक्ति एवं दलित जीवन को उत्कर्षमय बनाने का मुद्दा ही सर्वप्रमुख था। स्वतंत्र भारत में दलित जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है और अभी कुछ होना बाकी है तथा दलितों की शिक्षित पीढ़ियां भी आ गई हैं, अतः दलित लेखकों को अब अपनी जाति तक सीमित रहने के स्थान पर संपूर्ण समाज की मुक्ति और विकास के बारे में सोचना होगा। प्रेमचंद का जीवन एवं दलित-दर्शन उनके लिए उपयोगी हो सकता है। यदि दलित लेखक अंबेडकर के साथ स्वामी विवेकानंद, गांधी और प्रेमचंद को साथ लेकर चलेंगे तो वे निश्चय ही स्वयं तो समृद्ध होंगे ही, दलित-विमर्श को नई ऊंचाईयों तक ले जाने में सफल होंगे और उनका दलित साहित्य भी भारतीय जन-मानस के साहित्य के रूप में समादृत, स्वीकृत और काल-विजयी होगा। इसके लिए दलित लेखकों को अपने सीमित एवं अतिवादी दृष्टिकोण में संतुलन लाना होगा और इसके लिए प्रेमचंद का उदाहरण उनके सामने है। प्रेमचंद हिंदी कहानी में दलित चेतना के उद्भावक थे उसे आधुनिक बनाने वाले थे तथा वे दलितोत्थान के साहित्यिक मसीहा थे। हमारे दलित लेखक यदि सहानुभूति से प्रेमचंद को पढ़ेंगे तो वे भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे।

\* लेख में प्रयुक्त जातिसूचक शब्द के स्थान पर दलित का प्रयोग किया गया है।

## वैचारिकी

# जीवन में साहित्य की उपस्थिति

राकेश भारतीय

सही मायनों में, साहित्य की जड़ जीवन में है। अपने तमाम-तमाम आयामों में जीवन ही सर्जना के सामने चुनौती पेश करता हुआ साहित्यकार को किसी रचना के लिए प्रेरित करता है। साहित्य के लंबे इतिहास में हम देखते हैं कि वही साहित्यकार प्रतिमान बना सके जिन्होंने अपनी कृतियों में जीवन को केंद्र में रखा, वायवीय अवधारणाओं या प्रायोजित विचारधाराओं को शब्दजाल का जामा पहनाकर जबरदस्ती का 'साहित्य' पेश करने के लोभ में नहीं पड़े।

इस परिदृश्य पर जरा दूसरी तरफ से नजर डालने की कोशिश करते हैं। जीवन में साहित्य किस हद तक उपस्थित है? जीवन की संगति-विसंगति को अपनी दृष्टि के दायरे में रखकर सतत सार्थक रचनाएं देते जा रहे साहित्यकार ही क्या अपने घर-परिवार में, बंधु-बांधवों-परिचितों के जीवन में कहीं साहित्य की उपस्थिति देख रहे हैं?

इक्कीसवीं सदी की शुरुआत में 'चौतरफा' प्रगति का डंका बज रहा है। हमें अहसास कराया जा रहा है कि ऐसी 'प्रगति' की कल्पना तक हमारे बाप-दादों ने नहीं की होगी। पर जीवन की मूलभूत आवश्यकताएं तो अब भी वही हैं- सिर के ऊपर एक छत, रोटी जुटाने लायक एक रोजगार, सांस लेने के लिए साफ हवा, प्यास बुझाने के लिए साफ पानी, पेट भरने के लिए अन्न इत्यादि। और, इन मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए इनसान की मशक्कत और जद्दोजहद को केंद्र में रखकर दुनिया भर के साहित्य में कितना कुछ श्रेष्ठ रचा गया है। पर सारी मशक्कत और जद्दोजहद के बावजूद, इनसान संवेदना से आलोड़ित होकर अपनी जिंदगी में वह 'थोड़ी सी जगह' भी ढूंढ लेता रहा है जहां इस मशक्कत-जद्दोजहद पर सोच-विचार किया जा सके, समान रूप से संघर्षरत लोगों की गाथा से प्रेरणा ली जा सके तथा किसी अगली मशक्कत-जद्दोजहद को झेलने के लिए अपने को मानसिक रूप से तैयार भी किया जा सके। जीवन की इसी 'थोड़ी सी जगह' में साहित्य भी उपस्थित रहा है; संगीत तथा कला के साथ। इसी विशिष्ट मानवीय प्रवृत्ति को रेखांकित करने के लिए महाराज भर्तृहरि ने कहा था-

*'साहित्य संगीत कलाविहीनः, साक्षात्पशु पुच्छविषाणहीनः'*

(साहित्य, संगीत और कला से विहीन व्यक्ति पूंछ तथा सींग से रहित पशु के समान हैं।)

जीवन में साहित्य की उपस्थिति दरअसल जीवन में जीवन से निकले हुए तथा जीवन से जुड़े हुए 'मनोरंजन' की उपस्थिति है। इस 'मनोरंजन' में इनसान के लिए सुकून भी मौजूद है, सलामती



के लिए जरूरी सूत्र भी मौजूद है। पीढ़ियों से समाज के निरक्षर तबके तक भी मौखिक परंपरा से पहुंचता आया तुलसी-कबीर का साहित्य 'मनोरंजन' की इसी कसौटी पर पीढ़ी दर पीढ़ी खरा उतरकर आज भी प्रासंगिक बना हुआ है। पत्र-पत्रिकाओं या पुस्तकों में छपकर पढ़े-लिखे तबके तक पहुंचता हुआ साहित्य, अपने श्रेष्ठ उदाहरणों में, मौखिक-लिखित दोनों ही रूपों में समाज के बड़े तबके तक पहुंचे तुलसी-कबीर के साहित्य से आगे वही भूमिका निभाता आया है। आधुनिक काल के उपन्यासों में से ही कुछ उदाहरण देखें : ताराशंकर बंधोपाध्याय का चिकित्सकीय नैतिकता पर केंद्रित उपन्यास 'आरोग्य निकेतन', कस्बाई जीवन के बहाने विशिष्ट भारतीय विसंगतियों को ही चित्रित कर गया श्रीलाल शुक्ल का उपन्यास 'राग दरबारी', मनोहारी रूप धर-धर विदेशी आक्रांताओं को चकमा देते जा रहे और क्रांतिकारी प्रतिरोध की मशाल जलाए रखे सव्यसाची जैसे सशक्त नायक वाला शरतचंद्र चट्टोपाध्याय का दस्तावेजी उपन्यास 'पथेर दाबी', तमिलनाडु के एक गांव में अपने प्रतिपोषक पिता की जायदाद के संधान में पहुंचे नायक हेनरी की रोचक जीवन-शैली के बहाने जीवन के मूलभूत प्रश्नों को उठाता हुआ जयकांतन का तमिल उपन्यास 'उरु मनिदन, उरु वीड, उरु उलगम' (एक आदमी, एक घर और एक दुनिया); ऐसे उपन्यास हैं, जो जीवन से जुड़े हुए साहित्य के प्रतिमान उदाहरण होते हुए जीवन से निकले हुए मनोरंजन के साहित्य में प्रभावी चित्रण के भी प्रतिमान उदाहरण हैं।

औद्योगिक क्रांति के उन्नीसवीं शताब्दी में जड़ जमाने के साथ मानव-जीवन में उपलब्ध 'सुविधाओं' का स्वरूप बदलने लगा, उनकी 'उपलब्धता' के भी नित नए आयाम खुलने लगे। वहां के इक्कीसवीं शताब्दी की शुरुआत के आज के मानव-जीवन तक पहुंचते-पहुंचते हम अपने जीवन को तमाम 'आधुनिक' चीजों से पूरी तरह आच्छादित देख रहे हैं। एक जमाना होता था, जब हमारे जीवन का सुख-दुःख ही नहीं, राग-विराग भी मौसम के मिजाज से काफी हद तक प्रभावित होता था। पूरी दुनिया में ही निराले, छह ऋतुओं वाले वैविध्य से रेखांकित हमारे मौसम से अपने सुख-दुःख का तालमेल बिठाने में हमारी न जाने कितनी पीढ़ियों ने मानवीय जिजीविषा के न जाने कितने आयाम दिखाए। चमड़ी जलाती गर्मी, हाड़ कांपती सर्दी, हियरा हुलसा देने वाले वसंत, जियरा लहका देने वाली झमाझम बरसात इत्यादि से संवेदित होकर भारतीय साहित्य का भी कितना कुछ श्रेष्ठ रचा गया। प्रेमचंद की अविस्मरणीय कहानी 'पूस की रात' इसका एक उदाहरण है। आज इक्कीसवीं सदी की शुरुआत में हमें यह सुविधा है कि कमरे के अंदर बैठे-बैठे मात्र एक बटन दबाकर वांछित मौसम हम कमरे के अंदर संभव कर लें। मौसम को 'मैनेज' करने में सक्षम बटन से लेकर जीवन के तमाम अन्य पहलुओं को 'मैनेज' करने वाले तमाम बटन हासिल करने के बाद हम अपने-आप को बहुत 'सशक्त' मानने लगे हैं। इतने 'सशक्त' कि जीवन की वास्तविकताओं से भागने के लिए या उनसे जब चाहे तब निजात पाने के लिए प्रौद्योगिकी-प्रदत्त एक 'मनोरंजक' आभासी संसार बना चुके हैं, जब मन हो उसमें घुस जाएं, जब मन हो वहां से निकल जाएं। ज्यों-ज्यों प्रौद्योगिकी की ताकत और पहुंच बढ़ रही है, इसके द्वारा पुष्पित-पल्लवित और नियोजित आभासी संसार ज्यादा से ज्यादा जगह छेकता जा रहा है। और, यह उसी जगह में संध मानने पर आमदा है, जहां जीवन से निकला और जीवन से जुड़ा हुआ मनोरंजन 'साहित्य' के रूप में उपस्थित रहता है। युवा पीढ़ी का एक तबका तो अब अपने जीवन में जगह बना चुके इस आभासी 'मनोरंजन' को ही मनोरंजन का पर्याय मानने लगा है।

इस बात को मानना पड़ेगा कि प्रौद्योगिकी से सिरे से नकारात्मक रोल नहीं अदा किया है। जीवन में साहित्य की उपस्थिति को ही लें। तमाम साहित्यिक पत्रिकाएं इंटरनेट पर भी अवतरित होकर प्रौद्योगिकी के चलते ही हजारों किलोमीटर दूर बैठे पाठकों तक भी पहुंच जा रही हैं। प्रौद्योगिकी ने ही फिल्म जैसे माध्यम को संभव किया जिसके तहत साहित्यिक कृतियों को नया आयाम देने वाली ऋत्विक् घटक की 'मेघे ढाका तारा', मृणाल सेन की 'भुवन शोम' एवं 'ओको ओरी कथा' (प्रेमचंद की 'कफन' कहानी पर आधारित तेलुगू फिल्म), सत्यजित रे की 'शतरंज के खिलाड़ी' जैसी उत्कृष्ट फिल्में बनीं। भीष्म साहनी के उपन्यास 'तमस' पर गोविन्द निहलानी द्वारा बनाए गए टेलीविजन-धारावाहिक को भी उस कृति के संदर्भ में इसी श्रेणी में रखा जाएगा। इसके बावजूद प्रौद्योगिकी की प्रकृति ऐसी है कि उसमें सकारात्मक संभावनाओं के साथ-साथ नकारात्मक संभावनाएं छिपी ही नहीं रहती हैं, बल्कि सारी सकारात्मक संभावनाओं को सतत आच्छादित करते-करते नकारात्मक संभावनाओं द्वारा लील ही लिए जाने का खतरा भी मौजूद रहता है। आज यह खतरा प्रत्यक्ष है, 'मनोरंजन' की सारी परिभाषाओं के चीथड़े उड़ाकर वास्तविक संसार के हर क्रियाकलाप का कार्टून बनाते जा रहे आभासी संसार के रूप में। वास्तविक संसार के ठीक समानांतर खड़ा हुआ यह आभासी संसार उसे एक 'आइडेंटिटी क्राइसिस' (पहचान का संकट) से ग्रसित करने पर आमादा है। जीवन की तमाम मशक्कतों के बीच, अपने अस्तित्व के लिए सारी जद्दोजहद के बीच इनसान ने संवेदना से अलोड़ित होकर सुकून तथा सलामती प्रदान करने में सक्षम जो जगह साहित्य के रूप में बनाई थी वह भी आभासी संसार द्वारा प्रक्षेपित 'मनोरंजन के नए-नए सुकूनी' संस्करणों के आक्रमण के मद्देनजर पहचान बचाए रखने के लिए जूझ रही है। आभासी सुकून के पैकेज चौंथि ाया दे रहे हैं, जीवन के लिए नितांत अवास्तविक तथा असंभव दृश्य को भी देखने वाले के दिमाग में 'वास्तविक तथा संभव' के रूप में दर्ज कर देने का 'कमाल' दिखला रहे हैं। इस 'मनोरंजन' में जीवन की सलामती का कोई सूत्र नहीं है, उल्टे सलामती को लेकर जो भी समझ बाकी है उसे कुंद कर देने के सूत्र मौजूद हैं। यह आभासी 'मनोरंजन' इनसान की चेतना वैसे ही कुंद कर सकता है जैसे नशीले पदार्थ। 'मनोरंजन' के साहित्य जैसे 'पुराने' संस्करणों के कद्रदान आज कम होते जा रहे हैं, आभासी संसार के 'मनोरंजन' का बाजार भाव दिन दूना रात चौगुना बढ़ रहा है।

अब इस परिदृश्य में साहित्य जीवन में अपनी जगह कैसे बनाए रखे, कैसे बचाए रखे?

आसान रास्ता हो सकता है कि साहित्य भी आभासी सुकून देने के तरीकों की नकल करने लगे, जीवन की वास्तविकता को धता बताकर एक 'बेहतर' आभासी मॉडल तैयार करे और खोई जगह जीतने के लिए 'मैदान' में उतर आए। वर्तमान साहित्य के सुधी पाठक देख ही रहे हैं कि इस आसान रास्ते पर कई 'साहित्यकार' चल पड़े हैं, कई चलने के लिए मचलते हुए इसके पक्ष में तरह-तरह के तर्क दे रहे हैं। फिल्म का सीन दर सीन पेश करती हुई सी 'लाजेर दैन लाइफ' कहानियां, यथार्थ से कटे और विकृतियों की एक 'आकर्षक चटनी' बने हुए उपन्यास, कल्पना की टांग तोड़कर बेतुक-बेहुदे बिंबों का कोलाज बनाती जा रही कविताएं, ये सब 'साहित्य' के रूप में परोसे जाने का सिलसिला शुरू हो गया है। यही नहीं, साहित्य के सर्वमान्य पंडित' कई मामलों में इसे 'नवोन्मेषी' साहित्य के रूप में सरेआम 'स्वीकार' करते भी देखे जा रहे हैं। इस दिशा में कोई कसर न छोड़ने के 'उत्साह' में कुछ 'प्रतिष्ठित' साहित्यिक समारोहों में फिल्म-जगत के नकलटीपू संगीतकारों की

बेसुरी धुनों पर शब्द नचाने वाले 'गीतकार' बाकायदा 'साहित्यकार' के रूप में पेश किए जा रहे हैं। नितांत अवास्तविक और उद्दीपक 'माल' को बस शब्दों में लपेटकर 'साहित्य' के रूप में इस तरह 'चलाने' के दुराग्रह का अंजाम यही हो सकता है कि उसे भी आभासी संसार जैसा 'मनोरंजन' संभव करने में समर्थ एक 'उपकरण' समझ लिया जाए। ऐसे 'साहित्य' को जीवन में जो 'जगह' मिलेगी वह साहित्य के रूप में नहीं मिलेगी बल्कि आभासी संसार वाला 'मनोरंजन' संभव करने में 'कारगर' उपकरण के रूप में मिलेगी।

मुश्किल रास्ता है; आभासी संसार वाले 'मनोरंजन' के नशे में डूबे हुए तमाम लोगों में, विशेषकर नई पीढ़ी के लोगों में साहित्य के प्रति रुचि, बदलते जा रहे जीवन के प्रभावी चित्रण से साहित्यिक पैमानों पर ही पैदा की जाए। यह साहित्य की परिभाषा के भीतर ही साहित्य का अनुसंधान है। जीवन की तमाम मशक्कतों के बीच सुकून तथा सलामती देने वाली उसकी क्षमता का पुनर्संधान। साहित्य की श्रेष्ठ कृतियों को देखें तो हर काल में श्रेष्ठ कृतियां शाश्वत जीवन-मूल्यों के साथ समकालीन यथार्थ की संगति-विसंगति को प्रभावी रूप से प्रस्तुत करने के लिए साहित्यिक उपकरणों को नए तरीके से मांजती-निखारती रही हैं। क्यों न हो; जीवन जितना गतिशील है, साहित्य का श्रेष्ठ उससे कम गतिशील तो नहीं हो सकता। मुश्किल रास्ते पर चलकर अभूतपूर्व साहित्यिक सफलता अर्जित करने वालों में ही नहीं, साहित्य की भूमिका और पहुंच को अद्वितीय विस्तार देने वालों में गोस्वामी तुलसीदास का नाम सर्वोपरि है। उस काल में जब संस्कृत में लिखे गए साहित्य को ही साहित्य माना जाता था; तुलसीदास ने अवधी में 'रामचरितमानस' लिखकर साहित्य की 'लोकंजन' से लोकमंगल' वाली क्षमता को नए सिरे से व्याख्यायित कर, जन-जन के जीवन में साहित्य को नए तरीके से संप्रेषित दिया। तुलसीदास के समय में मुश्किल रास्ते की शक्ल उन्हें जैसी दिखी, उसी के अनुरूप उस पर चलकर साहित्य को लोकप्रिय तथा प्रासंगिक बनाने का साहित्यिक तरीका उन्होंने सफलतापूर्वक निकाला। आज मुश्किल रास्ते की शक्ल कुछ और है, और उसी शक्ल के अनुरूप साहित्यिक तरीके निकाल पाने की चुनौती हमारे सामने है।

मुश्किल रास्ता आज पहली अपेक्षा यह रखता है कि साहित्यकार जीवन के समकालीन यथार्थ को समग्र रूप से समझने की कोशिश करे, बिना किसी पूर्वाग्रह के उसकी तह दर तह में अपनी संवेदना की बंदौलत पैठने की कोशिश करे। यह दौर तेज बदलाव का है, इस तेजी में यथार्थ बहुत उलझाव लिए होता है और उस तक पहुंचने में बाधाएं भी उतनी ही तेजी से आती हैं। अपनी ज्ञानेंद्रियों की क्षमता का हम अकसर दस प्रतिशत उपयोग भी नहीं करते। साहित्यकार को, विशेषकर, अपनी ज्ञानेंद्रियों का उपयोग औसत से कहीं अधिक करना होगा। क्योंकि रचना-कर्म की कुंजी उसकी ज्ञानेंद्रियों में ही है। यहां एक उदाहरण से बात स्पष्ट करते हैं: मनुष्य की अदम्य जिजीविषा पर केंद्रित तमाम रचनाएं हैं। हेमिंग्वे के छोटे पर बेहद प्रसिद्ध उपन्यास 'ओल्ड मैन एंड द सी' की सारी खासियत इसमें है कि वह समकालीन यथार्थ के बेहद तकनीकी पहलुओं, मछली पकड़ने के आधुनिक उपकरणों के सूक्ष्म से सूक्ष्म पहलुओं पर भी कथानक को केंद्रित करते हुए उसे जिजीविषा के उद्घाटन को आधुनिक पाठक के लिए बेहद संवेदनशील रूप से ग्राह्य बना देता है। साहित्य का कोई भी सुधी पाठक उपन्यास समाप्त करने के बाद इस बात का शिद्दत से अहसास करेगा कि हेमिंग्वे ने अपनी ज्ञानेंद्रियों का किस प्रशंसनीय स्तर तक उपयोग कर जीवन के सामान्य से

क्रियाकलाप का इतना संवेदनशील आयाम साहित्य में चित्रित करना संभव कर दिया है। समाज में साहित्य की विश्वसनीयता तथा सर्वस्वीकार्यता ऐसी ही रचनाशीलता सुनिश्चित करती है।

भाषा पर अधिकार के बिना साहित्यकार की रचनाशीलता आगे नहीं बढ़ सकती। पर किस प्रकार की भाषा? वही भाषा न जो कथ्य की मांग के अनुरूप चले; यथार्थ का जो पक्ष चित्रित होना अपेक्षित है, उसको चित्रित करने में समर्थ हो। आभासी संसार में तो भाषा से ही खेला जा रहा है। 'कुछ भी चलता है' वाली प्रवृत्ति के तहत विकृत शब्दावली झोंककर उस शब्दावली के नशेड़ी पैदा किए जा रहे हैं। इसके विपरीत; अगर समकालीन यथार्थ में विकृति का बाहुल्य दिख रहा है तो साहित्य का रास्ता है उस विकृति के चित्रण में समर्थ भाषा का प्रयोग, न कि उस विकृति का ही अंग बनी भाषा। एक बार फिर तुलसीदास का ही उदाहरण लें। रामचरितमानस के लंकाकांड में राम तथा रावण की सेनाओं के बीच हो रहे भयंकर युद्ध के दौरान एक से बढ़कर एक वीभत्स दृश्य हैं और तुलसीदास उन दृश्यों के सटीक चित्रण के अनुकूल भाषा तथा बिंबों का प्रयोग इस कुशलता से करते हैं कि युद्ध की विभीषिका अपनी पूरी वीभत्सता में उजागर हो जाती है। पर आज के जीवन में निहित विकृति को तुलसीदास की भाषा में चित्रित नहीं किया जा सकता। इसके लिए अलग ढंग और मिजाज की विकृति के चित्रण के अनुकूल भाषा का संसाधन करना होगा। उचित, सटीक तथा धारदार भाषा का संधान मुश्किल रास्ते से साहित्य की विश्वसनीयता सुनिश्चित करने का एक अहम घटक हो सकता है।

साहित्य के क्षेत्र में सक्रिय लोगों की पृष्ठभूमि जितनी वैविध्यपूर्ण होगी, समकालीन यथार्थ के अनेकानेक पक्षों की प्रामाणिक प्रस्तुति की संभावना उतनी ही बढ़ेगी। आज भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों में पृष्ठभूमि से इंजीनियर, डॉक्टर, वकील, सैनिक पत्रकार, प्रशासक, प्राध्यापक इत्यादि की उपस्थिति पहले से बहुत बढ़ी है। पर सिक्के का दूसरा पहलू यह है कि पाठकों की पृष्ठभूमि में संकुचन हुआ है। एक कारण यह है कि बड़ी प्रसार-संख्या वाले पत्र-पत्रिकाओं के पन्नों पर साहित्य की उपस्थिति कम हुई है। दूसरा बड़ा कारण है साहित्य के प्रचार-प्रसार को लेकर ज्यादातर साहित्यकारों की उदासीनता, लिखकर कहीं छपा देने के बाद अपने 'साहित्यिक' कर्तव्य की इतिश्री समझ लेना। कुछ प्रशंसनीय अपवादों में ही कुछ साहित्यकार साहित्य का माहौल बनाने को उतना ही महत्वपूर्ण कार्य समझते हैं जितना कविता-कहानी लिखना। अपने साहित्यिक कर्म को इस तरह संकुचित दायरे में देखकर न साहित्यकार बहुत आगे पहुंचेगा, न उसका साहित्य। जीवन में साहित्य की जो भी जगह रही है वह आभासी संसार अगर हथियाता दिख रहा है तो वापस उस जगह को हासिल करने के लिए साहित्य के लोगों को ही तो आगे आना होगा। अपनी साहित्यिक भूमिका को विस्तार देते हुए साहित्यकार साहित्य के प्रचार-प्रसार की एक चलती-फिरती इकाई बन सकता है।

एक चलती-फिरती इकाई के रूप में साहित्य के प्रचार-प्रसार में लगे साहित्यकार सबसे पहले तो उन इलाकों-व्यक्तियों पर ध्यान केंद्रित कर सकते हैं जो आभासी संसार द्वारा प्रक्षेपित 'मनोरंजन' के दायरे से अभी दूर ही बने हुए हैं। ध्यातव्य है कि आभासी 'मनोरंजन' के नशे ने पहले महानगरों को आवृत्त किया, फिर छोटे शहरों तक पैर फैलाने लगा। इसके बावजूद, महानगरों में ही तमाम ऐसे इलाके और तबके हैं जो उसकी पहुंच से अभी दूर ही हैं। साहित्य जैसा स्वस्थ तथा जीवनोपयोगी

मनोरंजन मुहैया कर सकता है वह इन इलाकों-तबकों तक पहुंचेगा तो यह मजबूत विकल्प भी उनके सामने रहेगा। लघु पत्रिकाओं की शुरुआत ही साहित्य के प्रचार-प्रसार के इस मॉडल के तहत हुई थी और साहित्यकार उस समय इसकी महत्ता समझकर जुड़े भी थे। कुछ इनके संपादकों की 'व्यक्तिगत' महत्वाकांक्षाओं के चलते और कुछ बंधु-बांधवों की बेतुकी रचनाओं को पन्नों पर जगह देने के चलते, लघु पत्रिकाओं का आंदोलन मंद पड़ गया। साहित्यिक सामग्री का वितरण कड़ी दर कड़ी मजबूत हो जाए तो जीवन में साहित्य की उपस्थिति स्वतः कड़ी दर कड़ी मजबूत होती जाएगी। और इस कड़ी में साहित्य-सृजन के साथ-साथ साहित्य के प्रचार-प्रसार में भी सक्रिय साहित्यकार, निश्चय ही, सबसे मजबूत कड़ी सिद्ध होगा।

भले जीवन में साहित्य की उपस्थिति प्रत्यक्ष तब न दर्ज हो पर परोक्ष रूप से विद्यार्थी-जीवन में साहित्य का प्रवेश भाषा-साहित्य की कक्षाओं के लिए निर्धारित पुस्तकों में निहित सामग्री के माध्यम से हो ही जाता है। भारतवर्ष के लगभग सभी इलाकों के स्कूलों में दसवीं कक्षा तक तो विद्यार्थी कम से कम दो भाषाएं उनके साहित्य के साथ पढ़ता ही है। कक्षा-विशेष के विद्यार्थियों की उम्र तथा समझ को निगाह में रखकर जीवन से जुड़ी हुई रोचक साहित्यिक सामग्री इन पुस्तकों में मिले तो दस में कम से कम एक विद्यार्थी अपनी स्मृति में इसे मजबूती से संजोकर वयस्क जीवन में साहित्य की उपस्थिति सुनिश्चित करने के लिए प्रेरित हो सकता है। दुर्भाग्य से, कम से कम हिंदी साहित्य के मामले में, स्कूल पुस्तकों के सामग्री के चुनाव के लिए अधिकृत 'विद्वान' अकसर अपनी सारी विद्वत्ता अपने खेमे के या बंधु-बांधवों के साहित्य को 'उपकृत' करने में लगाते देखे जा रहे हैं, विद्यार्थी की साहित्य में रुचि की कीमत पर। जो भी कसर बाकी रहती है, वह पढ़ाने की क्षमता से इतर कारणों से 'चुने' गए अध्यापक पूरी कर देते हैं और हमारे ज्यादातर साहित्यकार, एक बार फिर लिखकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते हुए, साहित्य के प्रति कम उम्र में ही रुचि जगाने के इस सुनहरे मौके को जाया होते हुए पीढ़ी दर पीढ़ी भयावह उदासीनता से निहारते चले जा रहे हैं।

आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि आभासी संसार द्वारा प्रक्षेपित 'मनोरंजन' इसी का फायदा उठाकर बच्चों-किशोरों के अपरिपक्व मानस में धडल्ले से अपनी जगह बनाता जा रहा है, 'बाजार' के विस्तार के लिए भरमाने की तमाम तरकीबें अपनाकर। यह साहित्य के लिए ही नहीं, जीवन के लिए भी जरूरी है कि उसमें साहित्य उपस्थित रहे। स्थायी और गहरे पैठे सुकून को संभव करने वाला इससे बेहतर 'मनोरंजन' नहीं, इससे बेहतर 'मॉडल' नहीं। इस महत्वपूर्ण तथ्य को अगर साहित्यकार नहीं समझेंगे, तो कौन समझेगा?



# आदिवासी साहित्य : स्वरूप, चुनौतियां और संभावनाएं

गंगा सहाय मीणा

इन दिनों आदिवासी समाज और साहित्य पर काफी बातें हो रही हैं लेकिन वह अनगिनत चुनौतियों से जूझ रहा है। नई आर्थिक नीतियों से हमारी सरकारों और उद्योगपतियों को विकास के नाम पर आदिवासियों को लूटने की खुली छूट मिल गई। इसका असर देश के किसी भी आदिवासी इलाके में देखा जा सकता है। देश भर के आदिवासियों ने इस खुली छूट को अलग-अलग तरीकों से चुनौती भी दी है। लाल रेखा की परिधि के बढ़ते चले जाने से लेकर नियमगिरि की ग्राम सभाओं द्वारा वेदांत के एक सुर में विरोध तक में हम इसे देख सकते हैं। आदिवासियों की समस्याएं सुलझने के बजाए और उलझती जा रही है। इसकी सबसे बड़ी वजह आदिवासी जीवन और समाज से बाहरी समाज और सरकारों का अपरिचय और उपेक्षापूर्ण रवैया है। आदिवासी समाज से संवाद में आदिवासी साहित्य एक सशक्त माध्यम बन सकता है। आदिवासी साहित्य की लंबी मौखिक परंपरा के माध्यम से हम आदिवासी संस्कृति और जीवन-दृष्टि के बुनियादी तत्वों की पहचान कर सकते हैं। वहीं समकालीन आदिवासी लेखन आदिवासी समाज और जीवन में हो रहे बदलावों से हमें रू-ब-रू कराता है।

आदिवासी साहित्य पर आ रही कितारों और शोध भ्रमों का निर्माण और दोहराव ही अधिक कर रहे हैं। इसलिए आदिवासी साहित्य के बारे में सही समझ का निर्माण करना बहुत जरूरी है। हालांकि स्वयं आदिवासी जीवन और समाज किसी प्रकार के शास्त्र या सिद्धांतों का बंधन नहीं मानता, लेकिन आदिवासी साहित्य के बारे में फैल रहे भ्रमों के निराकरण के लिए कुछ बुनियादी सवालों पर बात करना जरूरी है। इस संदर्भ में सबसे बुनियादी सवाल यही है कि आखिर हम आदिवासी साहित्य किसे कहेंगे? हिंदी के दो अन्य अस्मितावादी विमर्शों को देखें तो यह लगभग स्वीकृत हो चुका है कि स्त्रियों की समस्या पर स्त्रियों द्वारा लिखे साहित्य को स्त्रीवादी साहित्य और इसी तर्ज पर दलितों की समस्याओं पर दलित रचनाकारों के रचनात्मक हस्तक्षेप को दलित साहित्य की श्रेणी में रखेंगे। दलित साहित्य के विरोधियों ने 'स्वानुभूति' के सवाल पर खूब हल्ला मचाया लेकिन बड़ी संख्या में दलितों के प्रतिरोध ने दलित साहित्य विषयक दलित आलोचकों की स्थापनाओं को मनवा ही लिया।

होना तो यह चाहिए था कि दलित साहित्य की अवधारणा-निर्माण की प्रक्रिया में आई मुश्किलों का अकादमिक दुनिया में उसके बाद दस्तक देने वाले आदिवासी साहित्य को बना-बनाया हल मिल जाता लेकिन ऐसा हुआ नहीं। आदिवासी जीवन और समाज पर गैर-आदिवासी रचनाकारों के कहानी-उपन्यास प्रशंसा, पाठ्यक्रम और पुरस्कार पा रहे हैं तथा दो-एक आदिवासी रचनाकारों को छोड़कर सैंकड़ों की संख्या में सक्रिय आदिवासी कवि-लेखक उपेक्षित हैं। आदिवासी साहित्य की अवधारणा और बुनियादी सवालों को उठाने की दृष्टि से पिछले एक वर्ष में हुए दो गोष्ठियां बड़ी

महत्वपूर्ण हैं। इनमें से एक दिल्ली में हुई और दूसरी रांची में। पिछले वर्ष जुलाई में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में आदिवासी साहित्य पर हुई राष्ट्रीय संगोष्ठी में संभवतः पहली बार खुले तौर पर झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा (रांची) की संयोजक और आदिवासी रचनाकार वंदना टेटे ने आदिवासी साहित्य की अवधारणा के सवाल को मुखरता से उठाया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि कुछ समय के साथ या सुनी-सुनाई बातों से आदिवासी जीवन का सच प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। मुख्यधारा की सोच, भाषा और दृष्टिकोण से आदिवासी जीवन पर किया लेखन रिसर्च हो सकता है, लेकिन आदिवासी साहित्य नहीं। आदिवासी ही अपनी पीड़ा को सही ढंग से बयान कर सकता है। उसकी समस्याएं प्रधानतः आर्थिक नहीं हैं, जैसा कि अधिकांश रचनाकारों ने चित्रित किया है। इसके बाद वाले सत्र में वंदना टेटे द्वारा उठाए गए सवालों पर कथाकार संजीव सहित आदिवासी जीवन पर लिखने वाले कई गैर-आदिवासी रचनाकारों द्वारा असहमति जताते हुए प्रतिक्रिया दी गई।

वंदना टेटे ने आदिवासी साहित्य संबंधी अपने चिंतन को व्यवस्थित रूप से हाल ही में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन' में रखा है। आदिवासी साहित्य के संवर्द्धन के लिए निजी प्रयासों से संचालित प्यारा करकेड़ा फाउंडेशन से प्रकाशित यह पुस्तक आदिवासी जीवन, भाषा, कला, संस्कृति और साहित्य के बारे में फैलाए जा रहे भ्रमों को तोड़ते आदिवासी नजरिए से आदिवासी साहित्य और आदिवासी विश्वदृष्टि के बारे में सही समझ विकसित करने की दिशा में सार्थक हस्तक्षेप है। इसमें वंदना टेटे आदिवासी साहित्य संबंधी प्रचलित तीन धारणाओं- उसके लोक साहित्य होने, अनगढ़ होने और प्रतिरोध का साहित्य होने का खंडन करती हैं तथा आदिवासी संस्कृति, जीवन-दर्शन व उनके विश्वदृष्टिकोण के प्रति एक नई अंतरंग दृष्टि की मांग करती हैं। वे लोक का संबंध हिंदू मिथक और संस्कृति से बताते हुए कहती हैं, 'प्रकृति-पूजक और बोंगा को मानने वाले आदिवासियों के साहित्य को हिंदू धर्म की शब्दावली 'लोक' में बांधकर संकीर्ण करना धार्मिक असहिष्णुता तो है ही, सांस्कृतिक अतिक्रमण भी है।'<sup>1</sup> वे लोक और शिष्ट के विभाजन से भी अपनी असहमति दर्ज कराती हैं। इसी तरह आदिवासी साहित्य और कलाओं को हिंदी आलोचकों द्वारा अनगढ़ बताने को सीधे-सीधे आदिवासी सामूहिकता, सहजीविता और सहअस्तित्व के दर्शन को वैचारिक रूप से नकारना मानती हैं। पुस्तक में वंदना टेटे की सबसे महत्वपूर्ण स्थापना है कि आदिवासी साहित्य अन्य शोषितों के साहित्य की तरह वेदना और प्रतिरोध का साहित्य नहीं है। वे लिखती हैं- 'आदिवासी साहित्य मूलतः सृजनात्मकता का साहित्य है। यह इनसान के उस दर्शन को अभिव्यक्त, करने वाला साहित्य है जो मानता है कि प्रकृति सृष्टि में जो कुछ भी है, जड़-चेतन, सभी कुछ सुंदर है।... वह दुनिया को बचाने के लिए सृजन कर रहा है।'<sup>2</sup> वंदना टेटे कहती हैं कि प्रतिरोध का साहित्य वर्तमान सत्ता के खिलाफ लड़ने वालों की 'सत्ता' स्थापित करना चाहता है लेकिन आदिवासी साहित्य में ऐसी कोई कामना दूर-दूर तक नहीं है।

इन स्थापनाओं के आलोक में आदिवासी साहित्य की अवधारणा पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। आदिवासी साहित्य संबंधी अधिकांश भ्रमों के निर्माण की शुरुआत यहीं से होती है कि आखिर हम आदिवासी साहित्य में किसे शामिल मानेंगे और किसे नहीं। पहली बात तो यह कि हिंदी आदिवासियों की मातृभाषा नहीं रही है इसलिए हमें इस आग्रह को छोड़ना होगा कि हिंदी में लिखे साहित्य को ही आदिवासी साहित्य मानेंगे, आदिवासी भाषाओं में लिखे साहित्य को आदिवासी



साहित्य नहीं मानेंगे। आदिवासी साहित्य की परंपरा में हमें विभिन्न आदिवासी भाषाओं में बिखरे लाखों आदिवासी गीतों के रूप में उपलब्ध पुरखौती को शामिल करना होगा जिसका कुछ हिस्सा डब्यू. आर.सी. आर्चर जैसे विद्वानों द्वारा संकलित भी किया गया है। यह आदिवासी साहित्य का मूलाधार है इसलिए आदिवासी साहित्य का इतिहास लिखते वक्त, उसकी प्रवृत्तियां बताते वक्त हमें संताली, 'मुंडारी', 'खड़िया', 'कुडुख', 'हो' आदि भाषाओं की साहित्य परंपरा को सामने रखना होगा।

जहां तक गैर-आदिवासियों द्वारा आदिवासी जीवन पर किए लेखन का सवाल है, वह उस लेखकीय संवेदनशीलता का परिचायक है जो साहित्य मात्र के उद्देश्य, अनुभव और संवेदनशीलता के विस्तार, का समर्थन करती है। वह भी हिंदी साहित्य की धरोहर है लेकिन जैसे सभी युगों की प्रगतिशील कविताएं 'प्रगतिवाद' नामक साहित्यिक आंदोलन में शामिल नहीं की जा सकती, वैसे ही आदिवासी जीवन के किसी पक्ष पर लेखन मात्र आदिवासी साहित्य नहीं कहा जा सकता। सवाल यह है कि क्या प्रगतिशील रचनाएं सिर्फ 'प्रगतिवाद' में शामिल होने के लिए लिखी जानी चाहिए! आदिवासी जीवन पर गैर-आदिवासी लिखें। किसी भी विषय पर कोई भी लिख सकता है, पाठक को भी पढ़ने से कोई नहीं रोक सकता। गैर-आदिवासी लेखकों को चाहिए कि अगर वे आदिवासी समाज को लेकर सच में चिंतित हैं तो आदिवासी साहित्यकारों को प्रोत्साहित करे, उनका सहयोग करे क्योंकि प्रकाशन, प्रसार, प्रशंसा, पुरस्कार और पाठ्यक्रम के रूप में मौजूद साहित्य के एकेडमिया की पूरी मशीनरी पर गैर-आदिवासियों का कब्जा है। वैसे अब काफी संख्या में आदिवासी रचनाकार हिंदी में भी लिखने लगे हैं लेकिन इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि हिंदी आदिवासियों की मातृभाषा नहीं रही है, आदिवासी भाषाओं में रचित मूल साहित्य के अलावा उसके हिंदी अनुवाद को भी पाठ्यक्रमों में शामिल करना चाहिए। यह इसलिए भी जरूरी है कि हिंदी प्रदेश, हिंदी क्षेत्र और हिंदी जाति की बात करते वक्त हम हमेशा उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, उत्तराखंड, झारखंड, बिहार, राजस्थान, हिमाचल आदि के पूरे क्षेत्र और जनसंख्या को उसमें शामिल मानते हैं, लेकिन उनकी भाषाओं और साहित्य को कभी अपना नहीं मानते रहे। हिंदी के पाठ्यक्रम निर्माताओं को इस रूप में यह प्रायश्चित का अवसर मिला है।

आदिवासियों ने किसी कौम पर राज करने के लिए नहीं, लेकिन अपना अस्तित्व बचाने के लिए बार-बार विद्रोह किया है। पिछली दो सदियों आदिवासी विद्रोहों की गवाह रही हैं। इन विद्रोहों से रचनात्मक ऊर्जा भी निकली, लेकिन वह मौखिक ही अधिक रही। समकालीन आदिवासी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में आदिवासी समाज में हजारों साल पुरानी साहित्य की मौखिक परंपरा को रखा जा सकता है, जिसे पुरखौती कहा जाता है। पूर्वोत्तर भारत में लगभग डेढ़ सौ साल पहले और संताली आदि मध्य भारतीय आदिवासी भाषाओं में 1950 के आसपास से आदिवासी कलम ने अपने स्वयं के शब्दों में ढालना शुरू किया। आजादी के बाद जयपाल सिंह मुंडा के नेतृत्व में भारतीय राजनीति से साहित्य तक में आदिवासी चेतना की गूंज सुनाई देने लगी। बाद के आदिवासी लेखन को उसी के विकास के रूप में देखा जा सकता है। पुरखौती रूप में मौजूद आदिवासी साहित्य जहां प्रकृति और प्रेम के विविध रूपों के साथ रचाव और बचाव का साहित्य है, वहीं समकालीन आदिवासी लेखन अस्मिता की खोज, दिक्कों द्वारा किए गए और किए जा रहे शोषण के विविध रूपों के उद्घाटन तथा आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संकटों और उनके खिलाफ हो रहे संघर्ष का साहित्य है। 'यह उस परिवर्तनकारी चेतना का रचनात्मक हस्तक्षेप है जो देश के मूल निवासियों के वंशजों के



प्रति किसी भी प्रकार के भेदभाव का पुरजोर विरोध करती है तथा उनके जल, जंगल, जमीन और जीवन को बचाने के हक में उनके 'आत्मनिर्णय' के अधिकार के साथ खड़ी होती है।<sup>3</sup>

आदिवासी साहित्य विविधताओं से भरा हुआ है। समृद्ध मौखिक साहित्य परंपरा का लाभ आदिवासी साहित्यकारों को मिला है। आदिवासी साहित्य की उस तरह कोई केंद्रीय विधा नहीं है, जिस तरह स्त्री साहित्य और दलित साहित्य की आत्मकथात्मक लेखन है। आदिवासी रचनाकारों ने आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संघर्ष में कविता को अपना मुख्य हथियार बनाया है। आदिवासी साहित्य में आत्मकथात्मक लेखन केंद्रीय स्थान नहीं बना सका क्योंकि स्वयं आदिवासी समाज 'आत्म' में नहीं, समूह में विश्वास करता है। अधिकांश आदिवासी समुदायों में काफी समय बाद तक भी निजी और निजता की धारणाएं घर नहीं कर पाईं। परंपरा, संस्कृति, इतिहास, कला से लेकर विद्रोह तक, सब कुछ सामूहिक है और समूह की बात आत्मकथा में नहीं, जनकविता में ज्यादा अच्छे से व्यक्त हो सकती है। इस तरह आदिवासी साहित्य बिरसा, सिदो-कान्हा, सिनगी दर्ई, फूलो झानो, माकी मुंडा, गोंड रानी दुर्गावती और तमाम आदिवासी पुरखों के जीवन और आंदोलनों से चेतना और प्रेरणा लेकर आगे बढ़ रहा है।

हिंदी में आदिवासी कलम के बढ़ते दखल के बीच इस वर्ष 14-15 जून को रांची में 'आदिवासी दर्शन और समकालीन आदिवासी साहित्य सृजन' विषय पर राष्ट्रीय सेमिनार आयोजित किया गया जो आदिवासी साहित्य के बारे में सही समझ विकसित करने, उसका मूल्यांकन करने और उसके बुनियादी तत्वों की पहचान करने की दृष्टि से खास रहा। रांची सेमिनार में इन्हीं तत्वों की पहचान की गई और सेमिनार के अंत में घोषणा-पत्र जारी किया गया। रांची घोषणा-पत्र के अनुसार आदिवासी साहित्य की बुनियादी शर्त उसमें आदिवासी दर्शन का होना है। झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृत अखड़ा नामक संगठन द्वारा आयोजित इस सेमिनार में देश भर के आदिवासी रचनाकारों ने हिस्सा लिया और आदिवासी दर्शन सारी बातचीत के केंद्र में था।

पंद्रह सूत्रीय रांची घोषणा-पत्र में आदिवासी साहित्य के लिए अनिवार्य आदिवासी दर्शन का पहला तत्व है उसका प्रकृति की लय-ताल और संगीत का अनुगामी होना। दरअसल आदिवासी समाज में साहित्य अन्य कला-माध्यमों से अलग और श्रेष्ठ नहीं माना जाता। वहां कलाकार एक साथ गीतकार भी है, संगीतकार भी है और नर्तक भी। आदिवासी साहित्य की लंबी परंपरा के रूप में मौजूद मौखिक साहित्य या पुरखौती में कौन-सा गीत किसने रचा, बताना मुश्किल है क्योंकि अधिकांश गीतों की रचना सामूहिक रूप से हुई। पुरखौती किसी व्यक्ति या व्यक्तियों की नहीं, पूरे समाज की धरोहर मानी जाती है। तमाम भाषाओं में मौजूद आदिवासी साहित्य में प्रकृति की लय-तान और संगीत भरा पड़ा है। समकालीन आदिवासी लेखन पर भी इसका असर देखा जा सकता है। बिना संगीत के आदिवासी कविताओं की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। सेमिनार में आदिवासी कविताओं के लिए एक अलग सत्र रखा गया जिसमें सुषमा असुर, अनुज लुगुन, वंदना टेटे, ग्रेस कुजूर, जसिंता केरकेट्टा, ज्योति लकड़ा आदि समकालीन आदिवासी कवियों ने अपनी-अपनी कविताएं सुनाईं। अपनी मातृभाषाओं को छोड़ हिंदी में रची कविताओं में भी यह संगीत सुना जा सकता है।

आदिवासी दर्शन में प्रकृति और पुरखों के प्रति आभार का भाव निहित होता है। पुरखों के कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान और इंसानी बेहतरी के अनुभवों के प्रति आदिवासी रचनाकार कृतज्ञता व्यक्त करता है क्योंकि उसी से पृथक आदिवासी परंपरा और संस्कृति के निर्माण द्वारा आदिवासी

अस्मिता का स्वरूप बना। आदिवासी दर्शन परलोक के बजाए समूचे जीव-जगत को महत्वपूर्ण मानता है और मनुष्य की श्रेष्ठता के दंभी दावे को खारिज करता है। आदिवासी विश्वदृष्टि के अनुसार दुनिया का हर प्राणी और उसका जीवन बराबर महत्वपूर्ण है। इसलिए उन सब को बचाया जाना जरूरी है। साथ ही नदी, नाले, पहाड़, जंगल आदि को भी बचाया जाना जरूरी है। आदिवासी दर्शन पूरी दुनिया में फैल रही बाजारवादी लालसा और उससे उपजी धनलोलुपता और हिंसा का नकार करता है। बाहरी समाज ने हमेशा आदिवासी इलाकों को प्राकृतिक संसाधनों के दोहन का केंद्र माना है। आदिवासी जिस प्रकृति को मां मानते आए हैं, उसे बाहरी लोगों ने मुनाफे का साधन मात्र माना है। देश के तमाम आदिवासी इलाके संसाधनों के दोहन के लिए बर्बाद कर दिए गए और अब भी किए जा रहे हैं। आदिवासी उन जंगलों, नदियों, पहाड़ों से जरूरत भर चीजें लेता आया है और बदले में उनकी रक्षा करता आया है। वे उसके जीवनाधार हैं। आज भी अधिकांश इलाकों में यह प्रक्रिया देखी जा सकती है। कल्पना करें कि किसी आदिवासी बस्ती के समीप जंगल में किसी फल का पेड़ है तो वहां के आदिवासी उस पेड़ से जरूरतभर फल चुनेंगे, वो भी सबसे पहले पककर झड़े हुए। यह 'संतोष परं सुख' का विचार नहीं, रचाव और बचाव का दर्शन है यानी जरूरत भर उपयोग के बाद दूसरों के लिए चीजों को बचाना।

आदिवासी दर्शन की एक और खास बात है- जीवन के प्रति आनंदमयी अदम्य जिजीविषा। आज जब चारों ओर निराशा और कुंठा का माहौल है, आदिवासी दर्शन जीवन को आनंदमय नजरिए से देखने और जीने की वकालत करता है। आदिवासी जीवन में सांस्कृतिक वैविध्य के साथ सहजता और सरलता का अनूठा मेल देखने को मिलता है, जो जीवन को आनंदमयी बनाए रखता है। न वहां पैसे का लालच है और न मुनाफे की अंधी दौड़। बल्कि वह अपने सुखमय जीवन के लिए सृष्टि और समष्टि के प्रति कृतज्ञ महसूस करता है। नियमगिरि के मामले में पूरी दुनिया ने देखा कि नियमगिरि के डोंगरिया कांध आदिवासियों के लिए वह उनका पूर्वज है, उनका भगवान है और वही नियमगिरि वेदांत के लिए मुनाफे के स्रोत प्राकृतिक संसाधनों का ढेर मात्र। जाहिर है किसी पहाड़ को प्राकृतिक संसाधनों और लाभ से जोड़कर देखा जाएगा तो उसका अधिक से अधिक दोहन किया जाएगा, वहीं अगर उसे अपना पूर्वज माना जाएगा तो उसके बचाव और रचाव के प्रयास किए जाएंगे। आदिवासी समाज खुद को तमाम नदियों, पहाड़ों और जंगलों का संरक्षक मानता है और उन्हें बचाना अपना कर्तव्य समझता है। यह बात आदिवासी दर्शन की प्रमुख विशेषताओं में से एक है।

गैर-आदिवासी लेखन रंग, नस्ल, लिंग, धर्म आदि के पूर्वाग्रहों से भरा पड़ा है जबकि आदिवासी साहित्य और दर्शन में इनके प्रति कोई आग्रह नहीं है। आदिवासी सौंदर्यबोध के अनुसार दुनिया में कुछ भी असुंदर नहीं है। साथ ही आदिवासी साहित्य हर तरह की गैर-बराबरी के खिलाफ है। जब पूरी दुनिया एक संस्कृति और एक भाषा की ओर बढ़ती चली जा रही है, आदिवासी दर्शन मानव समाज की भाषाई और सांस्कृतिक विविधता के साथ खड़ा है। आदिवासियों का पारंपरिक ज्ञान और साहित्य उनकी अपनी भाषाओं में संरक्षित है। संयुक्त राष्ट्र संघ दुनिया भर के देशज लोगों के हक में उनके आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करता है। आदिवासी साहित्य भी आदिवासियों के आत्मनिर्णय के अधिकार के पक्ष में है।

तथाकथित मुख्यधारा की साहित्यिक विरासत सामंती, ब्राह्मणवादी, धनलोलुप और बाजारवादी शब्दावलियों, मिथकों, प्रतीकों और व्यक्तिगत महिमामंडन से भरी पड़ी है। तमाम प्रगतिशील और

अस्मितावादी साहित्य भी इससे पूरी तरह मुक्त नहीं है। आदिवासी साहित्य और दर्शन इससे अपनी असहमति जताता है। आदिवासी दर्शन सहअस्तित्व, समता, सामूहिकता, सहजीविता, सहभागिता और सामंजस्य को अपना आधार मानते हुए रचाव और बचाव में यकीन करता है। इसीलिए इसमें स्वानुभूति या सहानुभूति के स्थान पर सामूहिक अनुभूति का प्रबल स्वर-संगीत सुना जा सकता है। यहां एक और बात गौर करने की है। आदिवासियों का साहित्य उनकी मातृभाषाओं की मौखिक (और अब लिखित भी) परंपरा में मौजूद है। इसलिए आदिवासी दर्शन या आदिवासी विश्व दृष्टिकोण को समझने के लिए आदिवासियों के केवल हिंदी लेखन से काम नहीं चलेगा। उनकी मातृभाषाओं तक पहुंचना होगा।

आदिवासी दर्शन पर आयोजित यह संगोष्ठी कई दृष्टियों से खास रही। अभी तक आदिवासी साहित्य पर होने वाली संगोष्ठियों में गैर-आदिवासी लेखकों और वक्ताओं को ही बुलाया जाता रहा है। आदिवासी रचनाकार उनमें अपवादस्वरूप ही दिखते हैं, वह भी दो-एक ब्रांडेड हो चुके रचनाकार। दो दिनों तक चली रांची संगोष्ठी में आदिवासी लेखकों, पत्रकारों, प्रोफेसरो, शोधार्थियों, सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं, फिल्मकारों, रंगकर्मियों और कलाकारों की उपस्थिति ने आदिवासी दर्शन पर बहुआयामी विश्लेषण और सहमति का मार्ग प्रशस्त किया। कार्यक्रम में शामिल होने वाले विद्वानों में रोज केरकेट्टा, रूपलाल बेदिया, वंदना टेटे, ग्लैयडसन डुंगडुंग, ज्योति लकड़ा, सुषमा असुर, बन्ना राम मीणा, मंगलसिंह मुंडा, वाल्टगर भेंगरा 'तरुण', जोवाकिम तोपनो, धनेश्वर मांझी, जसिंता केरकेट्टा, अनुज लुगुन, ग्रेस कुजूर, वीरेंद्र कुमार मीणा, राजकुमार और इन पंक्तियों के लेखक का नाम शामिल है। इतनी बड़ी संख्या में आदिवासी विद्वानों की उपस्थिति और उनकी सक्रिय भागीदारी ने कार्यक्रम को सार्थक और सफल बनाने में मदद की। निजी प्रयासों और सीमित संसाधनों से किए गए इस संगोष्ठी में जारी किया गया घोषणा-पत्र आदिवासी साहित्य को समझने की दिशा में मील का पत्थर माना जाएगा।

यह भी सच है कि आदिवासी जीवन और साहित्य के बारे में बात करते वक्त हमें आदिवासी समाज के अंदर की विविधताओं को समझना और संबोधित करना होगा। आदिवासी समाज कोई जड़ समाज नहीं है, खास तौर पर इन दिनों वह गहरों बदलावों के दौर से गुजर रहा है। इन बदलावों को भी रेखांकित करना होगा। कुल मिलाकर आदिवासी जीवन और उसकी समस्याओं को संपूर्णता में समझना होगा और आदिवासी जीवन-दृष्टि को समझने में आदिवासी साहित्य से बेहतर पथ-प्रदर्शक कोई नहीं हो सकता। इसलिए हमारा फोकस आदिवासियों की उस पूरी मौखिक और लिखित साहित्य परंपरा पर होना चाहिए। उसी से संवाद करके हम समझ पाएंगे कि आदिवासी दर्शन रचाव और बसाव का दर्शन है। विकास की अलग-अलग परिभाषाओं की अंधी दौड़ में फंसे विश्व को यही दर्शन बचा सकता है।

#### संदर्भ

1. 'आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन' वंदना टेटे, प्यालरा केरकेट्टा फाउंडेशन, रांची, 2013, पृष्ठ-84
2. वही, (पृष्ठ- 87-88)
3. आदिवासी साहित्य विमर्श, संपादक- गंगा सहाय मीणा, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2014



## वैचारिकी

# पलामू में आदिवासी विप्लव : बिखरी-खोई कड़ियां

राकेश कुमार सिंह

झारखंड के आदिवासी क्षेत्रों में अंग्रेजी साम्राज्यवाद का रथ ईस्वी सन् 1767 में प्रविष्ट हुआ ही था कि बीच राह में, राजमहल की पहाड़ियों पर अड़े मिल गए थे पहाड़ियां। जब अवध के नवाब, हैदराबाद के निजाम, बाजीराव पेशवा आदि राजे-रजवाड़े-सामंत अंग्रेजों के साथ समझौते, संधि का सहायक-मैत्री (सबसिडियरी अलायंस) की आत्मछलना में मुग्ध थे, आदिवासी समाज प्रारंभ से ही हर बहिरागत सत्ता के विरुद्ध लामबंद होता रहा।

ईस्वी सन् 1781-1785 में तिलका मांझी की अगुवाई में झारखंड के पहाड़िया आदिवासियों ने राजमहल के पठार पर अंग्रेजों के विरुद्ध पहला सशस्त्र प्रतिरोध किया था जिसे 'पहाड़िया विद्रोह' के नाम से जाना जाता रहा है। चोरों, डकैतों, लुटेरों या घर में अनाधिकार घुसपैठ करने वालों के विरुद्ध हथियार का उपयोग कहीं भी विद्रोह नहीं कहलाता परंतु अपने अरण्यप्रदेश में बलात् प्रवेश करते व्यापारियों का विरोध करने वाले आदिवासियों के हर प्रतिरोध को अंग्रेज इतिहासकारों का अनुकरण करने वाले भारतीय इतिहासकारों ने विद्रोह के खाते में बनाए रखा है।

जनजातीय इतिहास-संस्कृति से अनभिज्ञ अंग्रेज शासकों ने आदिवासियों के लिए अपमानजनक शब्दों (लुटेरे, जंगली, डकैत, चुहाड़, कोल, सूअर आदि-आदि) का प्रयोग किया सो किया अपनी परंपरागत जमीन-जंगल की स्वायत्तता को अक्षुण्ण रखने हेतु अहर्निश संघर्षरत झारखंडी आदिवासियों के 'संतात हुल' या 'उलगुलान' को भी भारतीय इतिहास में उचित स्थान नहीं दिया गया है जबकि कम से कम तीन साम्राज्य विरोधी आंदोलन (पहाड़िया विद्रोह, संताल हुल और उलगुलान) ऐसे हुए हैं जिन्हें 'इंग्लैंड की क्रांति' (ई. सन् 1688), 'बोस्टन टी-पार्टी' (ई. सन् 1773), 'फ्रांसीसी क्रांति' (ई. सन् 1789), 'चीनी क्रांति' (ई. सन् 1911) या 'रूसी क्रांति' (ई. सन् 1917) की भांति देखा-पढ़ा-लिखा जाना चाहिए। और बात है कि आदिवासियों का हर प्रतिरोध बर्बरतापूर्वक कुचल डाला गया।

अंग्रेजों के झारखंड में प्रवेश करते ही पहाड़िया सक्रिय हो उठे थे जिसका उपसंहार पराभव था। बावजूद इसके आदिवासियों की मुक्तिकामी चेतना का मूलोच्छेद कभी नहीं किया जा सका। साम्राज्यवादी सत्ता से मुक्ति हेतु आदिवासियों ने बारंबार प्रयास किए। इस दिशा में तमाड़ विद्रोह (ई. सन् 1789-1795), चुआड़ विद्रोह (ई. सन् 1795-1800), पुनः तमाड़ विद्रोह (ई. सन् 1801), छोटानागपुर विद्रोह (ई. सन् 1811-1820), मुंडा विद्रोह (ई. सन् 1820/1832/1867), कोल विद्रोह

(ई. सन् 1831-1833), संताल हुल (1855-1856), सरदारी लड़ाई (ई. सन् 1869-1889), खरवार आंदोलन (ई. सन् 1874-1881), उलगुलान (ई. सन् 1889-1899), आदि टाना भगत आंदोलन (ई. सन् 1913-1942), संताल-पहाड़िया आंदोलन (ई. सन् 1920-1943) आंदोलनों की शृंखला रही है।

उपरोक्त आंदोलन (इतिहास की पुस्तकों में दर्ज विद्रोह) अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध झारखंड के आदिवासियों के शोषण, उत्पीड़न और असंतोष का ही प्रतिफल थे। औपनिवेशिक शासकों के साथ-साथ आदिवासी जन अपने भीतर के शत्रु (सूदखोर महाजन और शोषक जमींदार) से भी लड़ रहे थे। पलामू के परिप्रेक्ष्य में देखें तो अनेक आदिवासी आंदोलनों का कमोबेश प्रभाव पलामू पर सर्वाधिक सक्रियता रही वह रहे 'चेरो विद्रोह', 'कोल विद्रोह' और सत्तावन की देशव्यापी क्रांति से प्रभावित भी पड़ा परंतु जिन आंदोलनों में पलामू की 'चेरो-खरवार-भोगता विद्रोह'।

### चेरो विद्रोह (1800-1817)

पलामू के बीहड़ों में चेरो जाति का प्रवेश ई. सन् 1580 में हुआ था जब मुगलों ने चेरो राजा शाहबुल से उसका चैनपुर दुर्ग (दक्षिण शाहाबाद, वर्तमान में बिहार का कैमूर जिला) छीन लिया था। शाहबुल के महत्वाकांक्षी बेटे भगवंत राय ने नए इलाके की खोज करते हुए पलामू को अपना लक्ष्य बना लिया था।

तब पलामू सरगुजा (वर्तमान छत्तीसगढ़) के रक्सेल राजा मानसिंह के अधीन था और मान सिंह पलामू आता-जाता रहता था। मानसिंह की ऐसी ही एक अनुपस्थिति का लाभ उठा कर भगवंत राय ने आक्रमण कर दिया और पलामू पर अधिकार कर लिया। ईस्वी सन् 1771 तक पलामू पर चेरो राजवंश का शासन रहा और फिर प्रारंभ हुआ सत्ता का संघर्ष और पलामू में अंग्रेजों का हस्तक्षेप!

चेरो राजवंश के बारहवें राजा चित्रजीत राय और उसके महत्वाकांक्षी भतीजे गोपाल राय के बीच तनाव बढ़ने लगा। इस आंतरिक समस्या में गोपाल राय ने अंग्रेजों से सहायता की याचना कर अपने पांव पर कुल्हाड़ी मार ली। इसी सुअवसर की ताक में बैठे अंग्रेजों ने गोपाल राय को सहायता के बदले अंग्रेजी अधीनता की शर्त रख दी जिसे गोपाल राय ने स्वीकार कर लिया। अंग्रेज कप्तान कैमक 26 जनवरी 1771 को अजीमाबाद (वर्तमान पटना) से पलामू आ धमका। गोपाल राय को 'बिजूका राजा' बना कर 20 फरवरी को पलामू किले पर ब्रितानी ध्वज फहरा दिया गया।

अंग्रेजों ने पलामू की व्यवस्था को अपने ढंग से चलाना शुरू कर दिया। पुरानी काश्त-प्रणाली नष्ट कर दी गई। आदिवासी सरदारों से जमीन के पट्टे छीन लिए गए। भयंकर कर वसूली थोप दी गई। वर्षा वंचित पठार पर फसलें नियमित नहीं हुईं तो कर-वसूली हेतु शोषण का दौर शुरू हो गया। आदिवासी मुखिया तिलमिला उठे। नई औपनिवेशिक व्यवस्था के विरुद्ध विक्षोभ संगठित हो उठा।

अंततः भूखन सिंह चेरो के नेतृत्व में ईस्वी सन् 1800 में अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह उठ खड़ा हुआ। अंग्रेजों ने क्रूरतापूर्वक विद्रोह का दमन कर दिया। पलामू से निर्वासित भूखन सिंह ने अपने साथियों के साथ सुरगुजा में शरण ले ली। कुछ समय तक पलामू में शांति रही पर चेरो सुलगते रहे थे।

आदिवासी मुखिया-सरदारों को कुचल लेने के बाद अंग्रेजों के मुंह को खून लग चुका था। अब उनकी गिद्ध-दृष्टि पलामू के चेरो राजवंश पर थी। अंग्रेज अब पलामू प्रदेश पर परोक्ष नहीं, अपना

प्रत्यक्ष शासन चाहते थे। कर्नल लेस्ली ने कंपनी पुलिस के खर्च और लगान की दर इतनी अधिक निर्धारित कर दी कि गोपाल राय का उत्तराधिकारी चुड़ामन राय लगान की राशि नहीं चुका सका। डरपोक, विलासी, निकम्मा और अयोग्य राजा साबित हुआ चुड़ामन राय जो स्थितियों को न समझ सका, न संभाल सका। मालगुजारी न चुका पाने का आरोप लगाकर अंग्रेजों ने पलामू प्रदेश को नीलामी पर चढ़ा दिया। इक्यावन हजार रुपए की अंतिम बोली लगा कर अंग्रेजों ने पलामू का स्वामित्व प्राप्त कर लिया और व्यवस्थापक के रूप में पलामू को देव (औरंगाबाद/बिहार) के राजा घनश्याम सिंह के हवाले कर दिया।

यह चैरो राजवंश के लिए अपमानजनक तो था ही, आदिवासी सरदारों को भी अंग्रेजी अधीनता स्वीकार नहीं थी। कूठित-आक्रोशित आदिवासी समाज ने ईस्वी सन् 1817 में अंग्रेजी व्यवस्था के विरुद्ध पुनः विद्रोह कर दिया। यह विद्रोह भी दबा दिया गया। निश्चय ही चैरो विद्रोह तात्कालिक, स्थानीय तथा हिंसक था परंतु यही प्रवृत्तियां सन् सत्तावन की क्रांति में भी दिखाई पड़ीं। चैरो आक्रोश की भयंकरता से दहल उठे घनश्याम सिंह को पलामू से पलायन करना पड़ा था।

#### लड़ाका कोलों का विद्रोह (1831-1832)

‘चैरो विद्रोह’ में मुख्य भूमिका चैरो राजवंश और चैरो सरदारों की रही थी। अन्य जनजातियों ने इसे अंग्रेज-चैरो के बीच सत्ता-शक्ति के संघर्ष की भांति लिया था। लड़ाई से निरपेक्ष रहे मुंडा, भोगता, संताल, खरवार और कोल लोगों के कान तब खड़े हुए जब अंग्रेजों ने पलामू समेत पूरे अरण्य प्रदेश पर नई राजस्व व्यवस्था थोप दी। खूंटकट्टी को अमान्य कर दिया।

सदियों से आदिवासी समाज में खूंटकट्टी की परंपरा थी। जितनी वन्य-भूमि साफ कर कृषि कार्य किया जाता था, आदिवासी समाज उतनी भूमि पर जमीन साफ करने वाले का प्राकृतिक अधिकार मान लेता था। भूमि की उर्वरा शक्ति क्षीण होने लगती तो जंगल से उधार ली गई जमीन जंगल को वापस लौटाकर कृषक किसी नई जगह पर खूंटकट्टी कर खेती करने लगता था। अंग्रेजों ने खूंटकट्टी प्रथा को समाप्त कर मुंडा-मानकी की ग्राम्य-व्यवस्था को भी खारिज कर दिया। आदिवासियों के पैतृक अधिकार छीनकर गैर-आदिवासी सिक्खों और मुसलमान जमींदारों के हाथ सौंपा जाने लगा। मालगुजारी की कठोर वसूली हेतु नित्य नए बहिरागत जंगल में बसाए जाने लगे।

सिंगराई मानकी से उसके बारह गांव छीन लिए गए और उसकी दो बहनों के साथ बलात्कार किया गया। सुर्गा मुंडा की जमीन की बंदोबस्ती जफर अली को सौंप दी गई। सुर्गा ने विरोध किया तो उसकी पत्नी का अपहरण कर शीलभंग किया गया। हजारों अलिखित-अज्ञात रहे मामलों में सिंगराई और सुर्गा की तबाही ही दस्तावेजी बन सकी क्योंकि इन्होंने व्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठाने का दुःस्साहस किया था। सिक्ख-मुसलमान जमींदारों ने आदिवासी समाज में आतंक पैदा कर दिया था।

सरकारी पक्षपात, अकुशल प्रशासन-व्यवस्था और भयंकर सूदखोरी से आंदोलित क्षुब्ध आदिवासियों ने सिंगराई मानकी और सुर्गा मुंडा के नेतृत्व में नए जमींदारों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। जंगल की यह आग रांची, मानभूम, सिंहभूम, हजारीबाग होते हुए पलामू तक फैलती चली गई। मुंडा उरांव और हो सरदारों ने भी विद्रोह कर दिया। आदिवासी अपने गांव पर वापस कब्जा करने लगे। जफर अली जैसे नए जमींदार कत्ल किए जाने लगे। संपूर्ण टोरी क्षेत्र पर विद्रोहियों का कब्जा हो गया।

मनातू और बरवडीह में अंग्रेजी सेना को करारी मात खानी पड़ी।

इतिहास में 'कौल विद्रोह' के नाम से दर्ज यह आंदोलन पलामू से बाहर फूटा था परंतु यह आग पलामू तक पहुंची तो इसका मूल कारण था आदिवासियों की परंपरागत कृषि और राजस्व व्यवस्था में बहिरागतों तथा अंग्रेजों का हस्तक्षेप।

विद्रोहियों ने हर ओर त्राहि-त्राहि मचा दी तो कैप्टन विल्किन्सन के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना जंगल में उतारनी पड़ी। बैरकपुर, बनारस और दानापुर से भी कुमुक मंगवानी पड़ी। सम्मिलित सैन्य अभियान में गांव के गांव जला डाले गए।<sup>1</sup> आदिवासियों का कल्लेआम किया जाने लगा। लगभग पांच हजार वर्गमील भूमि वीरान कर डाली गई। वीर बुधु भगत की शहादत<sup>2</sup> और हजारों गिरफ्तारियों के बाद आखिरकार आदिवासियों का यह प्रतिरोध भी कुचल डाला गया।

#### चेरो-खरवार-भोगता विद्रोह (1857-1859)

सन् सत्तावन के स्वातंत्र्य में पलामू की भूमिका को प्रायः कमतर और पलामू की जनजातियों के योगदान को नगण्यप्रायः आंका जाता रहा है जबकि सन् सत्तावन के विद्रोह के समय पूरा पलामू सुलग रहा था। पलामू के जंगल धधक रहे थे। जंगल की इस आग की चिनगरियां चैरो विद्रोह के समय से ही सुलग रही थी जो सन् सत्तावन की बावली बयार बहते ही धू-धू कर धधक उठी थी।

मंगल पांडेय ने दस मई 1857 को मेरठ की सैन्य छावनी में अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध गोली दागी तो इसकी गूंज पलामू के पठार पर भी सुनी गई। पलामू का आदिवासी समाज भी दासता, शोषण, धिक्कार और गालियों के जुए को उतार फेंकने को आतुर था ही। संताल हुल (ई. सन् 1855) की बुझी अलाव के भीतर जिंदा आग सुलग रही थी। क्रांति की हवा पाते ही दावाग्नि धधक उठी थी। क्योंकि चैरो-खरवार-भोगता विद्रोह के मूल कारण वही तो थे जो संताल हुल के थे।

अखंड बिहार में सर्वप्रथम हजारीबाग की आठवीं पैदल सेना के जुलाई 1857 में अंग्रेज सैन्याधिकारियों के आदेशों को अमान्य कर बगावत कर दी तो आयुक्त सिंपसन हजारीबाग छोड़कर भाग खड़ा हुआ।

हजारीबाग जेल में आजीवन कारावास भोगते संभलपुर के सुरेंद्र शाही ने जेल की दीवारें ढहा दीं। आजाद हुए कैदियों और बागी सिपाहियों का नेतृत्व करता सुरेंद्र शाही अंग्रेज अधिकारियों के बंगले फूंकता सरकारी खजाना लूटकर डोरंडा (रांची का उपनगर) की ओर बढ़ा था। खबर थी कि रांची पर विद्रोही सैनिकों का कब्जा हो चुका था और यही सच था।

बड़कागढ़ के ठाकुर विश्वनाथ शाहदेव और भंवरो के पांडेय गणपत राय के नेतृत्व में हुए 'डोरंडा उपद्रव' में अंग्रेजी सेना की टुकड़ी परास्त हो चुकी थी। हटिया (रांची का उपनगर) के रण में महान अंग्रेजी सेना के अविजित रहने का मिथक टूट चुका था। जब लेफ्टिनेंट ग्राहम के अधीनस्थ जमादार माधव सिंह, जमादार जयमंगल पांडेय और सूबेदार नादिर अली खां विश्वनाथ शाहदेव के पक्षधर हो गए तो ग्राहम के हाथों के तोते उड़ गए थे। छोटानागपुर में अंग्रेजी सत्ता ध्वस्त हो चुकी थी। ग्राहम रांची छोड़कर भाग खड़ा हुआ था।

डोरंडा की आजाद फौज में विश्वनाथ सिंह शाहदेव, पांडेय गणपत राय और सुरेंद्र शाही तो थे ही अब मानभूम के नीलमणि सिंह और सिंहभूम से अर्जुन सिंह, जगू दीवान, श्यामकर्ण तथा रघुदेव भी आ मिले थे। आठ लोगों के संयुक्त नेतृत्व में आजाद सेना बरियातू, ठाकुरगांव, बोरियो और चंदवा



घाटी पार कर रही थी। पलामू से गुजरते हुए यह सेना दिल्ली प्रयाण करने वाली थी। यही पलामू के आदिवासी विप्लव से सन् सत्तावन की कड़ियां जुड़ती हैं।

जब पलामू के अंतिम चैरो राजा चुड़ामन राय को अंग्रेजों ने राजगद्दी से धकेल फेंका था तो पलामू के भोगता और खरवार जनजातियों ने चैरो लोगों का साथ दिया था। सन् सत्तावन की क्रांति से ठीक पहले अंग्रेजों ने भोगता परिवार का स्वत्व छीनकर निर्वासन में धकेल दिया था। भोगता प्रमुख की निर्वासन में ही मृत्यु हुई थी। भोगता प्रमुख के बेटों नीलांबर शाही और पीतांबर शाही के भीतर अंग्रेजों के प्रति आक्रोश उबल रहा था।

अंग्रेजों से खार खाए बैठा पीतांबर शाही रांची में निर्वासित जीवन जी रहा था। रांची विद्रोह के बाद अंग्रेजी सत्ता की चूलें हिलती दिखीं तो लगा अब अंग्रेजी राज खत्म होकर रहेगा। पीतांबर ने देखा कि यही उपयुक्त समय है जब चैरो, खरवार और भोगता लोगों की संयुक्त शक्ति अंग्रेजी व्यवस्था पर निर्णायक प्रहार कर सकती है।

पीतांबर अपने गृह-प्रदेश पलामू लौटा और भोगता भाईयों ने स्वयं को अंग्रेजी शासन से स्वतंत्र घोषित कर दिया। चैरो वंश की सहयोगी शाखाओं-विश्रामपुर के भवानीबख्श राय, चुकला के रामबख्श राय और लुकना के बाबूबख्श राय ने भोगता भाईयों को समर्थन और सहयोग का वचन दिया। चैरो जागीरदार देवीबख्श राय के नेतृत्व में पलामू-राज स्थापित करने के निश्चय के साथ चैरो-खरवार भोगता गठबंधन तैयार हो गया था परंतु युद्ध हेतु हथियार और असलहों की जरूरत भी थी।

निःसंतान मरे पलामू के राजा चुड़ामन राय की विधवा शाहपुर के किले में दुर्दिन काट रही थीं। तब भी रानी के पास चार तोपें थी जिस पर गठबंधन की नजर थी। गठबंधन की योजना शाहपुर की तोपें लूटने की थी ताकि पलामू की ओर बढ़ी आ रही रांची की सेना का उचित स्वागत किया जा सके और उसकी सहायता से पलामू के अंग्रेजी राज को उखाड़ फेंका जा सके। इसके बावजूद योजना सिर नहीं चढ़ सकी। रांची की आजाद फौज के विरुद्ध मेजर इंग्लिश ने चतरा में जबर्दस्त मोर्चाबंदी की थी।

चतरा में 2 अक्टूबर 1857 का वह भीषण युद्ध छिड़ा जिसमें विलियम कैलन, पैट्रिक बर्क, जॉन रियॉन, जेम्स रियान, जॉन चार्ल्स, लेफ्टिनेंट डॉट और सार्जेंट डाइन समेत 46 अंग्रेज और 10 सिक्ख सिपाहियों की बड़ी कीमत चुकाकर मेजर इंग्लिश ने नादिर अली और जयमंगल पांडेय को गिरफ्तार कर लिया। भयभीत सूबेदार माधव सिंह भी भाग खड़ा हुआ। बागी सेना की कमर टूट गई तो लाशों से पटे चतरा से विश्वनाथ शाही और पांडेय गणपत राय भी निकल भागे।

चतरा में जेल नहीं थी अतः जयमंगल पांडेय और नादिर अली को 77 विद्रोही सैनिकों के साथ डोरंडा लाकर 4 अक्टूबर 1857 को फांसी पर लटका दिया गया। जग्गू दीवान को भी 20 अक्टूबर को फांसी दे दी गई। चतरा की पराजय भी नीलांबर-पीतांबर के मनोबल को हिला नहीं सकी थी। चैरो-भोगता-खरवार गठबंधन ने 21 अक्टूबर 1857 को शाहपुर किले पर धावा बोल ही दिया। शाहपुर दुर्ग की तोपें छीन ली गईं। शाहपुर थाना समस्त दस्तावेजों समेत फूंक डाला गया। विद्रोहियों ने आगे लेस्लीगंज राजस्व मुख्यालय पर भी आक्रमण कर दिया। सरकारी खजाना तो लुटने से बच गया परंतु लेस्लीगंज थाना, आबकारी विभाग तथा तहसील कचहरी को आग के हवाले कर दिया गया।

विद्रोह के दमन हेतु लेफ्टिनेंट ग्राहम पलामू पहुंचा तो विद्रोहियों ने उसे रघुवरदयाल सिंह के

चैनपुर गढ़ में घेर लिया। सूचना थी कि शाहाबाद के बाबू कुंवर सिंह के विद्रोही साथी भी पलामू में प्रवेश करने ही वाले थे। स्थिति बिगड़ती देख ग्राहम घबरा उठा था। पलामू धधक रहा था।

पीताम्बर भोगता के नेतृत्व में विद्रोहियों ने रंका गढ़ पर हमला कर ठकुराई किशुनदयाल सिंह के भंडारों में आग लगा दी थी। बंदूकों से लैस पांच हजार विद्रोहियों ने 27 नवंबर को रजहरा स्थित 'बंगाल कोल कंपनी' में आगजनी कर मशीनें लूट ली थीं। तीन दिनों तक चली इस लूट और आगजनी में स्थानीय ब्राह्मणों ने भी आदिवासियों का साथ दिया तो छतरपुर और मनिका थाने भी लूटे और फूंक दिए गए।

चतरा युद्ध की सफलता से अंग्रेजों की स्थिति कुछ मजबूत हो गई थी। देव का घनश्याम सिंह ग्राहम की सहायता हेतु पलामू आ जुटा तो ग्राहम पलामू के कुछ विद्रोहियों को पकड़ने में सफल अवश्य हुआ परंतु नीलांबर-पीतांबर की सक्रियता कम नहीं हुई थी।

सन् सत्तावन के कुख्यात 'कानपुर फांसी कांड' के बाद रांची के शहीद चौक पर भी सामूहिक फांसी कांड घटित हो चुका था। 25 अक्टूबर 1857 को डोरंडा की आजाद फौज के तमाम विद्रोही सिपाही फांसी पर लटकाए जा चुके थे। इसके बावजूद लोहरदगा के जंगलों में छुपे बैठे विश्वनाथ शाहदेव और पांडेय गणपत राय नीलांबर-पीतांबर को सहायता भेजकर विद्रोहियों का मनोबल बढ़ाते रहे थे।

कमिश्नर डाल्टन ने भांप लिया था कि यदि लोहरदगा और पलामू के बीच के संपर्क सूत्र तोड़ डाले जाएं तो नीलांबर-पीतांबर का विद्रोह निर्मूल किया जा सकता है। विश्वनाथ शाहदेव और पांडेय गणपत राय की टोह में डाल्टन लोहरदगा की ओर कूच कर गया था। अब पलामू विद्रोहियों के लिए खुला पड़ा था।

नीलांबर-पीतांबर पलामू पर बुरी तरह हावी होते गए थे। महुआडांड, छेछारी, रंका कोरुंडा, लेस्लीगंज, लातेहार, उंटारी, चैनपुर, गढ़वा, शाहपुर, छत्तरपुर, विश्रामपुर, रजहरा...नीलांबर-पीतांबर का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। अंग्रेजों की स्थिति लगातार कमजोर होती जा रही थी।

बाबू कुंवर सिंह के भाई बाबू अमर सिंह 24 नवंबर को सोन नदी पार कर मझिआंव (पलामू) पहुंचे और भोज-भरत भाइयों की सुरक्षा में एक हजार सैनिकों के साथ गढ़वा की ओर निकल पड़े तो घबराए अंग्रेजों ने नीलांबर-पीतांबर की गिरफ्तारी हेतु ईनाम घोषित कर डाले।

पिठोरिया के जगतपाल सिंह की सहायता से डाल्टन ने लोहरदगा के जंगलों को मथ डाला था। लकराज के जंगल में अपने ही साथियों की गद्दारी के कारण विश्वनाथ शाहदेव और पांडेय गणपत राय अंग्रेजों के हथके चढ़ गए।

विद्रोही अर्जुन सिंह भी गिरफ्तार कर लिए गए। विद्रोहियों के दो प्रमुख नेता और मांझी के राजा उमराव सिंह और दीवान शेख भिखारी को 8 जनवरी 1858 को फांसी दे चुकने के बाद अंग्रेजों ने पलामू विप्लव के निर्मूलन हेतु बड़े सैन्य अभियान की योजना बनाई।

कमिश्नर डाल्टन और मेजर मैकडोनाल्ड के नेतृत्व में मद्रास नेटिव इंफैंट्री के डेढ़ सौ सैनिक, एक पूरी सिख टुकड़ी तथा रामगढ़ की एक घुड़सवार टुकड़ी के साथ एक तोपखाना भी पलामू में उतार दिया गया। लेफ्टिनेंट ग्राहम की सैन्य टुकड़ी भी अभियान में शामिल कर ली गई थी। अंग्रेज भक्त परगनैत जगतपाल सिंह ने जंगल-देहात में सैन्य अभियान के मार्गदर्शन का बीड़ा उठाया।

इध अंग्रेजी लश्कर की तैयारियां जोरों पर थी और उधर विद्रोही 11 दिसंबर 1858 को बांसडीह, चनया और रंका को लूट रहे थे। जब तक अंग्रेजों की विशाल सेना पलामू की ओर कूच करती पलामू किले पर विद्रोहियों का कब्जा हो चुका था। नीलांबर शाही के बेटे कुमार शाही, मुंडा सरदार परमानंद, नकलौत खरवार और भोगता बंधु भोज-भरत ने पलामू किले पर अधिकार कर अंग्रेजों को करारी मात दी थी।

पलामू किले पर अधिकार का मनोवैज्ञानिक लाभ विद्रोहियों को मिल चुका था। अंग्रेजों की संयुक्त सेना पलामू किले पर कहर बनकर टूटी थी। 22 जनवरी 1858 को घमासान युद्ध छिड़ गया था। नीलांबर-पीतांबर को पलामू किला छोड़कर पीछे हटना पड़ा था। विद्रोहियों का काफी सारा रसद, बंदूकें और कारतूस पीछे छूट गए थे। अपनी बढ़त से उत्साहित डाल्टन ने लेस्लीगंज को मुख्यालय बना कर पलामू में सैन्य कार्रवाइयां तेज कर दी थीं। लक्ष्य था नीलांबर-पीतांबर का गढ़ चेमो-सनैया।

राजा घनश्याम सिंह और ठाकुर किशुनदयाल सिंह की अगुआई में एक दिशा से रामगढ़ की सेना तथा दूसरी दिशा से लेफ्टिनेंट ग्राहम के नेतृत्व में दूसरी टुकड़ी आगे बढ़ी थी। 13 फरवरी 1858 को स्वयं डाल्टन भी सैन्य अभियान में शामिल हो गया था।

उत्तरी कोयल नदी की घाटी पार कर अंग्रेजी सेना भोगता प्रदेश में प्रविष्ट हुई और नीलांबर-पीतांबर के मुख्य गढ़ 'चेमो' गांव तक चढ़ती चली गई। चेमो के निकट 'सनैया' में नीलांबर-पीतांबर का एक अन्य गढ़ भी था। अंग्रेजी फौज ने सनैया पर भी आक्रमण कर दिया।

दो दिशाओं से घिर जाने पर नीलांबर-पीतांबर की स्थिति कमजोर हो गई थी। अंग्रेजी सेना गांव जला रही थी। विद्रोहियों की संपत्ति और मवेशी जब्त किए जा रहे थे। नीलांबर-पीतांबर फरार हो गए थे। कप्तान नेशन और ब्रिगेडियर डोग्लास विद्रोहियों की गिरफ्तारी हेतु छापे मार रहे थे पर नीलांबर-पीतांबर के तूफान को रोकना कठिन हो रहा था।

जुलाई 1858 तक शाहाबाद के विद्रोही बड़ी संख्या में पलामू पहुंच चुके थे। नीलांबर-पीतांबर की स्थिति मजबूत होने लगी थी। शाहाबाद से आने वाली सहायता को रोककर ही विद्रोहियों को कमजोर किया जा सकता था लिहाजा कर्नल टर्नर और कैप्टन डेविस ने कैमूर की पहाड़ियों से होकर आने वाले क्षेत्रों की जबर्दस्त नाकाबंदी कर दी परंतु जो विद्रोही पहले ही पलामू पहुंच चुके थे उन्होंने नाकोदम कर रखा था। अब अंग्रेजों ने अपनी बार-बार सफल रही कूटनीति आजमाना शुरू किया। फूट डालो: राज करो। अंग्रेजों ने पहले खरवार सरदारों को तोड़ा। सरदारों को बरगलाया कि चेतो लोग अपने पलामू किले के लिए लड़ रहे हैं और भोगता अपनी जागीर के लिए युद्धरत हैं। खरवारों के लिए इस संघर्ष में जनसंहार के बदले कुछ हासिल नहीं होने वाला है। खरवार भ्रमित हो गए।

खरवारों के बीच द्वंद-दुविधा पैदा करने के बाद अंग्रेजों ने चेतो जीमदारों के लिए 'आम माफी' पर विचार करने का आश्वासन देकर कई चेतो जागीरदारों को भी युद्ध से विरक्त कर दिया।

गठबंधन के शिथिल होते ही नीलांबर-पीतांबर की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई। मात्र दो सप्ताह बाद 8 फरवरी से 23 मार्च के बीच पांच कूटनीतिक वार्ताएं हुईं और मेजर मैकडोनाल्ड ने भोगता विद्रोहियों की रीढ़ की हड्डी हिला डाली।

16 अप्रैल 1858 को विश्वनाथ शाहदेव और 21 अप्रैल को गणपत राय की फांसी की तिथि तय कर दी गई। रांची के शहीद-स्थल से दक्षिण, वर्तमान जिला स्कूल के मुख्य द्वार पर कदंब वृक्ष

से लटकाकर फांसी दे डाली गई। चेतो और खरवारों की अवसरवादी टूट ने नीलांबर-पीतांबर को भीतर तक तोड़ डाला था।

चेमो-सनैया तबाह हो चुका था। रैयतों पर अंग्रेजों के जुल्म बढ़ते जा रहे थे। थके-टूटे नीलांबर-पीतांबर आखिरकार मानसिक रूप से भी हार गए। 8 से 23 फरवरी के बीच दोनों भाइयों ने आत्मसमर्पण कर दिया।

संक्षिप्त मुकदमे के बाद अप्रैल में शिवचरण मांझी, रूदन मांझी, भानुप्रताप सिंह तथा 150 अन्य साथियों के साथ नीलांबर-पीतांबर को लेस्लीगंज में फांसी पर लटका दिया गया। चेमो-सनैया की जागीर रघुवर दयाल सिंह को उपहार में सौंप दी गई। मालगुजारी बिना बढ़ाए वही रखी गई जो नीलांबर-पीतांबर अदा करते रहे थे : 43 रूपए 11 आने 9 पाई।

डोरंडा (रांची) का विप्लव सरकारी सैनिकों का विद्रोह अवश्य था परंतु पलामू पहुंचते-पहुंचते इसने जनविद्रोह का रूप ले लिया था। समाज के विभिन्न वर्ग अपने पारंपरिक जमींदारों-जागीरदारों के नेतृत्व में अंग्रेजी सत्ता को उखाड़ फेंकने हेतु सक्रिय हुए थे।<sup>4</sup>

भारतीय स्वातंत्र्य संघर्ष के इतिहास में पलामू का यह जनविद्रोह विफल अवश्य लिखा गया पर अंग्रेज अधिकारियों ने भी स्वीकार किया है कि नीलांबर-पीतांबर के प्रयासों से पलामू विप्लव सामान्य जन तक पहुंच गया था।<sup>5</sup>

#### संदर्भ/साभार

1. पलामू गजेटियर 1926 ई./ सर्वे सेटलमेंट रिपोर्ट, अध्याय 3।
2. शोर नोट्स/खण्ड 2 : पृष्ठ 97-98
3. विल्सन : मिल्स हिस्ट्री ऑफ इंडिया/खण्ड-3, पृष्ठ 337
4. पी. सी. राय चौधरी : 1857 इन बिहार छोटानागपुर एंड संताल परगानाज/पृष्ठ 100
5. ई. टी. डाल्टन : ओल्ड इंग्लिश करेसपांडेस संख्या 202/ पत्र : दिनांक 5 नवंबर 1858

# कागज की नाव

नासिरा शर्मा

### 1

रात ढल रही थी। पेड़ों की पत्तियों पर शबनम की बूंदें टपक रही थीं। आसमान पर चांद का चेहरा फीका सा लग रहा था। जहूर मियां जब पलंग पर करवट बदलते-बदलते थक गए तो अल्लाह का नाम लेकर उठ बैठे। कमरे में अभी अंधेरा छाया था। बिजली पिछले दो दिन से नहीं आई थी। कमरे से ज्यादा अंधेरा उनके जेहन के दरीचों में छाया था जहां बरसात के मौसम के बिना रह-रहकर बिजली कड़क जाती थी। उसकी तड़पती लहर में उन्हें एक ही इबारत लिखी नजर आती थी।

‘साउदी मिस काल मारीं? जी के जंजाल हटाई...’

उनका सारा बदन कांपकर रह गया। वह मजबूर नहीं हैं मगर जाने कौन सी बात उन्हें रोकती है जो वह बेटे से कुछ कह नहीं पाते हैं। शायद उसके गुस्से से डरते हैं या फिर घर में नन्हे-नन्हे बच्चों की परवरिश को लेकर अपने को रोक लेते हैं। उनकी तजर्बेकार निगाहें सब कुछ देख रही थीं, समझ रही थीं। उन्हें मोहल्ले वालों की भी फिक्र है कि वह क्या सोचते होंगे?

क्या करें वह? इस अंधेरे में उठकर न नमाज अदा कर सकते हैं और न टहल सकते हैं। टॉर्च जब से बिगड़ी है तब से बनी नहीं है। लालटेन भी जाने कब से बिना तेल सूखी पड़ी है। उन्हें पता है यह सजा उन्हें किस बात की मिली है। जहूर मियां ने गहरी लंबी सांस ली और दिल मसोसकर बिस्तर पर दराज हो गए। चश्मे का नंबर भी बढ़ गया है लेकिन फिक्र किसे है। उनकी आंखें छलक पड़ीं। पानी के बीच उनकी स्वर्गवासी पत्नी का चेहरा उभरा। वह हलके से मुस्कराए। दिल पर इतमीनान का फाया रखा महसूस हुआ। उन्होंने करवट बदली और आंखें निचोड़ीं। तकिया गीला होने लगा। वह किसी बच्चे की तरह फफककर रो पड़े, उस घर की याद में जहां जिंदगी हँसती थी। हर छोटे-बड़े की इज्जत और प्यार ही नहीं उनकी जरूरतों का पूरा खयाल किया जाता था। मां के साथ बाप और भाई-बहन के चेहरे उभरे। उनका दिल और तेजी से पिघला और एक छोटी सी नहर में बदलने लगा।

पास की मस्जिद से अजान की आवाज आई तो वह मुंह पोंछते हुए हड़बड़ाकर उठे और दरवाजा खोल तेजी से मस्जिद की तरफ कदम बढ़ाने लगे। जल्दबाजी में छड़ी लेना भूल गए थे। कई जगह ठोकर लगी और पैर मुड़ने से बच गया।

‘जहूर चाचा! चशमा त चशमा, छड़िओ भुला अइली?’ उनको लड़खड़ाते देख एक नमाजी ने टोक दिया जिसकी उसी मोहल्ले में छोटी सी पंचूरिया की दुकान कभी थी, जो आज बड़े से स्टोर

का मालिक बन गया था।

‘आपका चेकअप तो बराबर हो रहा है न चचा?’ बेटे के दोस्त सलीम ने पूछा।

‘हां बेटे, सब कुछ हो रहा है।’ कहते हुए जहूर मियां मस्जिद में दाखिल हुए जहां सफ में सब खड़े हो रहे थे। वह भी वुधू करके दालान की तरफ बढ़े और दिल ही दिल में कहने लगे कि आसपास की मस्जिदों में आगे-पीछे अजान होने से नमाजियों की नमाज कजा तो दूर उन्हें पेश इमाम के पीछे सफ में खड़े होकर नमाज पढ़ने की सहूलियत भी मिल जाती है।

जहूर मियां जब घर लौटे तो चाय की गर्म प्याली की जगह उन्हें फटकार सुननी पड़ी।

अब्बा, आप भी, दरवाजा खुला छोड़ गए। कुत्ता घर में घुस आया और रात के सारे बर्तन चाट गया। अब गर्म राख से गोता तहारत में करूं। मेरी कमर वैसे ही दर्द से फटी जा रही है। महलका की आवाज गूंजी।

‘दादा नहीं अम्मां, गोलू दरवाजा खुला छोड़कर गया था।’ छोटी बेटी रेशमा बोली।

‘कहां गया था गोलू इतनी सुबह?’ महलका के तेवर पहले से ज्यादा खिंच गए।

‘आपने ही तो बासी दाल पेड़ के पास डालने को भेजा था।’ चार साल के बेटे तनवीर ने कहा।

‘गुस्से में बेटे को घूरती हुई महलका ने दांत पीस बेटे को जलती आंखों से घूरा और बड़बड़ाई, दादा का पालतू...’

घर में चहल-पहल बढ़ गई थी। तीनों बच्चे स्कूल जाने को तैयार हो रहे थे और हर तरफ से दस साल के नौकर गोलू की पुकार मच रही थी। महलका ने सबके नाश्ते के डिब्बे तैयार कर दिए थे। अब वह गर्म चाय की प्याली मुंह से लगाए अपने बेडरूम की तरफ बढ़ रही थी। तभी तनवीर के रोने की आवाज सुन महलका पलटी और चाय की प्याली गुस्से में रखकर उसके गालों पर दाएं-बाएं चपत मारकर गुस्से से बोली, रोज वही हरकत! नहीं छुड़ाती आज!’

मम्मी! भाई को रोता देख रेशमा तड़प गई। महलका ने तनवीर को गोद में उठा तख्त पर लिटाया और कसी पेंसिल जींस के आगे लगी जिप को धीरे से खोला जिसमें बेचारे तनवीर की खाल फंस गई थी।

जब कहती हूं मैं बंद कर दूं जिप तो मानते नहीं हो। एक दिन ऐसा आएगा कि तुम खुद अपना खतना अपने हाथों कर लोगे।’ चाय की प्याली लेकर बड़बड़ाती महलका कमरे की तरफ बढ़ गई।

गोलू और अनवर जो अपनी हँसी दबाए थे खिलखिलाकर हंस पड़े। रोते तनवीर ने उन्हें देखा। चेहरे पर दर्द के भाव में खिसियाहट घुल गई और उसने तखत से उतर झपटकर गोलू के हाथ और अनवर की पीठ पर दांत काटा। फिर बैग घसीटता कमरे से बाहर की तरफ दौड़ा।

गोलू हाथ मलता हुआ अनवर और रेशमा का बैग उठा दरवाजे से निकला और तनवीर के पास पहुंच धीरे से बोला, चुसनी जींसवा...चुसनी जींस वाला बाबू। ‘तनवीर ने रूठी नजरों से गोलू को देखा फिर गर्दन हिला बोला, शाम को मम्मी से कहूंगा कि तुम भोजपुरी में बात करते हो, जब वह कान मरोड़ेगी तब पता चलेगा कि टाम कौन है और जेरी कौन है?’

‘नारायण...नारायण!’ गोलू ने हाथ ऊपर उठा ठीक रामायण सीरियल के चरित्र की तरह कहा।

बच्चों के बीच कुछ कुत्ते-बिल्ली वाले इशारे हुए। गोलू ने शरारत भरी मुस्कान के साथ तनवीर

को देखा। चाय का पानी चढ़ाया। अपने और दादा मियां के लिए झटपट चाय उबाल प्याली में उड़ेली। तीनों बच्चे गोलू के पीछे दादा के कोठरीनुमा कमरे की तरफ बढ़े। चारों के चेहरे पर खट्टी-मीठी परछाइयां नाच रही थीं।

‘बुढ़उफ, चहवा ले लीन।’ कहता गोलू दरवाजे की तरफ लपका जहां दूध वाला सायकिल की घंटी बजा रहा था।

‘दिल लगाकर पढ़ना।’ दादा ने प्यार से उनके सिर पर हाथ फेरा और उनके मुड़ते ही तेजी से प्याली तिपाई से उठा होंठों से लगाई। सूजी आंखें अभी जल रही थीं। उन्होंने चाय के पहले गर्म घूंट से अपने अंदर एक सुकून-सा महसूस किया।

दोपहर के करीब तंग गली में मोटरसाइकिल की आवाज गूंज उठी। घंटी बजने से पहले दरवाजा खुल गया। आज उन्होंने रोज की तरह उठकर खिड़की से बाहर गली में झांका नहीं। उन्हें बहू का जहर में बुझा जुमला अभी भी कानों में बजता महसूस हुआ जिसने उन्हें बुजुर्ग से बच्चा बना दिया था। वह कांप के रह गए।

‘मिस काल मारीं? द्वार से बाहर भिकवाई, चिंता खत्म हो जाई।’

उनके नाशते की जूठी प्लेटें गोलू आकर ले गया था।

वह रोज नाशते के बाद आंगन में फैली नर्म धूप में कुछ देर बैठकर गली के नुक्कड़ तक टहलने निकल जाते हैं मगर आज उनका दिल नहीं चाहा। चश्मे के बिना वह कुछ पढ़ नहीं सकते। इसलिए जो नातें और मुनाजतें उन्हें मुंहजबानी याद थीं उन्हें धीमी आवाज में पढ़ने लगे।

उनके कानों में चूड़ियों की खनखनाहट के साथ मोटरसाइकिल के स्टार्ट होने की आवाज सुनाई पड़ी। वह पढ़ते-पढ़ते रुक गए। दोनों हाथ ऊपर उठा उन्होंने घर और बच्चों की सलामती के लिए दुआ मांगी और छड़ी कमरे के कोने से उठा कोठरी से बाहर की तरफ बढ़े फिर ठिठक गए।

उनका सिर दांतों की वजह से बुरी तरह दुख रहा था। खाना कठिन लगता तो चाय पी-पीकर पेट भरते। दिल में बार-बार यह सवाल उठ रहा था कि मौका अच्छा है पी.सी.ओ. में जाकर जाकिर से बात करने का मगर फायदा क्या? बात राज में कहां रह पाएगी? वह पी.सी.ओ. वाला लड़का सब कुछ महलका से कह देगा और उन पर जुल्म व सितम और बढ़ जाएंगे। खत भी कैसे लिखें? डाकखाने जाना, टिकट या लिफाफा लाना क्या महलका से छुपा रहेगा? उसके कब्जे में सारे दुकानदार हैं। हर बात की खबर उसे देते हैं। वह तो अपने घर में नजरबंद होकर रह गए हैं।

उन्होंने दिल ही दिल में हिसाब लगाया। अभी जाकिर के घर आने में पूरे नौ माह बाकी हैं। तब तक उन्हें इंतजार करना होगा।

‘बुढ़उफ, चहवा पिअबा?’ गोलू पूछ रहा था।

‘हां, पीअब।’ दादा का छोटा सा जवाब हमेशा की तरह होता। जब तक दादा चाय राहत के साथ खुली हवा में बैठकर पीते तब तक गोलू सारे घर में झाड़ू लगाकर कपड़े धोने बैठ जाता था। जोर-जोर से गाना गाता और अपनी आजादी का खुलकर जश्न मनाता। उसकी यह हालत देखकर महलका के बड़े बेटे अनवर ने उसका नाम ‘भीगी बिल्ली’ रख दिया था। मम्मी के सामने दबबू बना, धीरे-धीरे बोलता मगर फुर्ती से काम करता था।

महलका अभी लौटी नहीं थी मगर बच्चे स्कूल से लौटकर सारे घर में धमाचौकड़ी मचा रहे थे।



गोलू भी उनके साथ ऊंच-नीच का पापड़ा खेल रहा था। तभी गली में मोटरसाइकिल की आवाज गूंजी और आंगन में अचानक मौत का सन्नाटा फैल गया। गोलू ने मेज पर से जूठे बर्तन तेजी से समेटने शुरू कर दिए और बच्चों ने अपने उछाले जूते-मोजे सलीके से किनारे रखे और कपड़े बदलने लगे।

मोटरसाइकिल बंद दरवाजे के सामने रुकी। चूड़ियों की खनखनाहट के साथ मीठी आवाज में मिली-जुली हँसी उभरी और फिर दरवाजे के खुलने की आवाज में मोटरसाइकिल का शोर डूब गया।

‘यह दरवाजा भी...’ महलका ने लटके दरवाजे के पल्ले को देख झुंझलाते हुए फोन मिलाया, ‘तुम कब आओगे दरवाजा ठीक करने? क्या हम तुम्हारा मेहनताना नहीं देते हैं जो कह रहे हो बहुत काम है?’

गोलू दरवाजे के पास रखे झोलों को उठाकर अंदर बेडरूम की तरफ ले गया।

‘बच्चे कहाँ हैं?’

‘बुलाते हैं,’ कह गोलू दरवाजे के पास से चीखा, ‘बबुआ, बबुनी आओ!’

कितनी बार कहा कि ‘बेबी कहा करो बबुनी नहीं!’ महलका ने झिड़का। तभी बच्चे उछलते-कूदते कमरे में दाखिल हुए।

‘लो अम्मां! बेबी बबुनी आ गई!’ कहता गोलू बाहर निकलते हुए शरारत से जबान दिखाकर हँसा तो जवाब में बच्चों ने भी मुंह चिढ़ाया। सैंडिलें उतार महलका बच्चों की तरफ पलटी।

‘होमवर्क मिला है?’

‘हां!’ अनवर ने कहा।

‘फिर शुरू हो जाओ, मैं बहुत थक गई हूँ। कुछ देर सोऊंगी, अगर शोर हुआ तो फिर जान लो...’ धमकाती हुई महलका काजल से भरी आंखें और शोख रंग से रंगे होंठों वाले चेहरे पर सख्ती लाती हुई बोली।

बच्चे कुछ बोले नहीं।

गोलू अपनी चटाई बिछाकर उस पर लेट गया। लेटते ही खरटे भरने लगा। उसके खरटे सुन तीनों को हंसी आ गई मगर वह खुलकर नहीं हंसे। सिर्फ तनवीर फुसफुसाया, कुंभकर्ण!’

अंदर कमरे में पहुंच महलका बड़े से शानदार पलंग पर अधलेटी-सी पड़ गई। रिमोट उठा टी. वी. खोला और कुछ सोच मुस्कराने लगी। तभी फोन की घंटी बजी। फोन उठाया और टी.वी. बंद किया।

‘हलो, आप कैसे हैं?’ शहद-सी मीठी आवाज निकली।

‘ठीक हूँ। बच्चे कैसे हैं? अब्बा की तबीयत कैसी है? चश्मा तो बन गया होगा? उनका खयाल रखना। पिछली बार के निमोनिया ने बड़ा कमजोर कर दिया है उन्हें...’

‘कभी अपनी इस कनीज की भी फिक्र कर लिया कीजिए हुजूर...जो इंतजार में आंखें बिछाए रहती है।’ बीच में महलका ने बात काट दी।

हँसी की आवाज के साथ जाकिर कहता, ‘अरे पूछो न, तन्हाई में यह रात-दिन कैसे काटता हूँ, यह मेरा दिल ही जानता है। दिन तो काम में निकल जाता है मगर रात तो किसी तरह काटे नहीं कटती। बच्चों के चेहरे आंखों के सामने घूमते रहते हैं। काश! तुम सब साथ होते।’

‘यह तो है।’ महलका ने लंबी गहरी सांस ली।

‘मैंने कैसे भेज दिए हैं। अब्बा से पूछ लेना...या फिर मैं खुद ही फोन करके पूछ लूंगा कि उन्हें कुछ चाहिए तो नहीं...और हां, परसों फोन मिलाया था मगर...’

‘अरे, क्या बताऊं। मस्जिद गए थे। किसी ने जेब से निकाल लिया।’

‘ओह! कोई बात नहीं, तुम दूसरा ले दो, नंबर मुझे दे देना...और हां, अपनी खैरियत बताओ, सेहत तो ठीक है न?’

‘अरे, मुझे क्या होगा, आप अपना खयाल रखिएगा।’ इतना कहकर महलका रोने लगी।

यह क्या? मेरा हौसला बढ़ाने की जगह तुम रोकर मेरा दिल छोटा न करो, तुम तो जानती हो, वहां नौकरी मिलती तो मैं यहां आता ही क्यों? कम से कम हमारे कर्जे उतर गए। रहन पड़े खेत छूट गए। और तो और, तुम्हें तुम्हारी पसंद के जेवरों से सजा सका...गांव वाला घर बेच सीवान में घर ले लिया। यही सब सोचकर तन्हाई से लड़ने का हौसला पैदा करता हूं, अगर तुम हिम्मत छोड़ दोगी तो फिर...वही फाका और वही बदहाली होगी...उसे सोचकर मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इसलिए खुश रहो और सिसकने की जगह जरा खिलखिलाकर हँस तो दो...यह बात हुई न...अच्छा फिर रात को फोन करूंगा, खुदा हाफिज!

महलका ने फोन रख टी.वी. खोला और बेड के पायताने पड़े थैलों से खरीदे कपड़े निकाले। उन्हें खोल-खोलकर अपने शाने पर डालती, फिर आईने में अपने को निहारती हुई कभी हंसती तो कभी शरमा जाती। बिस्तर पर फैले कपड़ों के बीच वह टी.वी. देखते-देखते गहरी नींद में डूब गई।

जहूर मियां कमरे में अकेले बैठे शाम की चाय का इंतजार कर रहे थे। कई बार दिल किया कि गोलू को आवाज दें फिर महलका के कड़वे लहजे के डर से दिल मसोसकर रह गए। बेटे ने उनके आराम का सारा सामान कमरे में सजा दिया था। बिजली की केतली, मोबाइल, छोटा सा टी.वी., रेडियो वगैरह ताकि अब्बा खुश रहें मगर महलका उनकी हर गलती पर बच्चों की तरह उन्हें सजा देती और बहाने-बहाने से एक-एक करके चीजें वहां से उठा ले जाती। ढेरों तस्वीरें थीं, वह तक नहीं छोड़ीं। अच्छे कपड़े धुलने और सूखने के बहाने गायब हो जाते और...

उन्होंने अपनी पेशानी सहलाई।

‘पता नहीं किस गुनाह की सजा मिल रही है मुझे?’ उन्होंने गहरी लंबी सांस खींची और दरवाजे की तरफ देखा। वहां कोई न था। वह बेचैनी से उठे और कमरे में टहलने लगे। मोहल्ले में एक-दो घर हैं जहां उनका आना-जाना बना हुआ था मगर वहां भी बहुओं के आने के बाद जूतियों में दाल बंटने लगी है। बुजुर्ग औरतों की इतनी बुरी हालत नहीं है, जितनी मर्दों को विधुर पाकर बहुओं ने अपना हिसाब बेबाक कर दिया है। मर्द बोलें क्या? इफतेखार मियां बोले थे तो बहू ने उनकी पाकदामनी पर कीचड़ की छींटी उछाल दीं। बेटे की नजरों में, जो गिराया सो गिराया नाते-रिश्तेदारों, मोहल्ले और दोस्तों तक में उन्हें रुसवा करके रख दिया। जहूर मियां की रूह वह वाकया याद करके कांप उठी। उनकी चाय की तलब एकाएक जाने कहां गायब हो गई। उन्होंने तकिए के नीचे से बेटे की तस्वीर निकाली और धुंधली आंखों से उसे घूरने लगे जैसे पुराने कमजोर दिल में ताकत हासिल कर रहे हों।

अगर शगुफ़ता न मरती तो शायद उनकी हालत इतनी बदतर न होती। बीबी की जुदाई तो वह जैसे-तैसे झेल गए थे मगर बेटी...जवान बेटी की मौत उन्हें तोड़ गई। ऊपर से नवासे को देखने

की भी मनाही है...वह पूरा किस्सा उन्हें याद आ गया और हाथ में पकड़ी तस्वीर गिरते-गिरते बची। उन्होंने कांपते वजूद को संभालना चाहा मगर जख्म की खुरंद उखड़ गई थी। ताजा खून पुराने जख्म से छलका और वह उस पर फाया रखने की जगह उसे और कुरेदने लगे।

‘अगर तब उसकी बातें संजीदगी से लेते तो...’ उन्होंने सोचा फिर दूसरे ही लम्हे हाथ पर हाथ मारकर बोले, ‘तो क्या कर लेते?’

‘हां, बोलो जहूर मियां तो क्या कर लेते?’

‘लड़का परदेस में, बीवी कब्र में, बताओ किसके भरोसे ताव दिखा रहे हो? उखाड़ तो लाई तुम्हें बरसाती घास की तरह तुम्हारे बाप-दादा के घर से कि बच्चों का वहां स्कूल नहीं, शहर चलो, शहर में बसो। बस गए पुराने दोस्तों और बिरादरी वालों को छोड़कर यहां, कुछ कर पाए तब? लड़की की मिन्नतें जब नहीं सुन पाए बहू से डरकर तो अब क्यों पछता रहे हो? काहे कलेजा खून कर रहे हो?’

उन्हें अपने चारों तरफ अजीब तरह की आवाजें और चीखें सुनाई पड़ने लगीं। उसी के साथ कफन में लिपटा बेटी का चेहरा। बैन करती मां और...

‘अरे, कब से पुकार रही हूं, बुढ़उफ सुन क्यों नहीं रहे हैं?’ महलकाकोठरी के दरवाजे पर खड़ी थी। उसे देखकर वह भौचक्का रह गए। एकाएक समझ नहीं पाए वह कहां हैं और शोर एकाएक कैसे महलका की आवाज में बदल गया?

‘यह लीजिए मोबाइल। रात को इनका फोन आएगा। मेरी शिकायत न करिएगा, समझे।’ इतना कह महलका ने पुराना मोबाइल तिपाई पर रखा और तेज कदमों से वापस चली गई।

‘बेटे का फोन?’ उनके होंठ कांपे।

तभी कमरे में गोलू चाय की प्याली के साथ दाखिल हुआ। साथ में गर्म हलवे की कटोरी भी थी। वह सब कुछ भूलकर गर्म चाय के घूंट भरने लगे और दिल ही दिल में इस लावारिस नौकर को लाखों दुआएं देने लगे जो उनकी चाय की तलब को किसी न किसी तरह मौका मिलते ही पूरी कर देता है।

‘आज तहरा पसंद के गोश्त बनल बा।’ गोलू ने मुस्कराती आंखों से कहा और हलवे का कटोरा आगे बढ़ाया।

‘अच्छा! अच्छा!’ वह सिर्फ इतना कह पाए। उनके नथुने देसी घी की खुशबू से फड़क रहे थे।

हम सांझ के खाना लेके आ जाइब।’ गोलू ने कहा तो उन्हें जैसे यकीन नहीं आया। फिर याद आया ‘अरे हां! आज रात जाकिर का फोन आने वाला है।’

उनके चेहरे पर एक बेबसी भरी मुस्कराहट उभरी और मुंह से निकला, ‘अल्लाह तू जवना हाल में रख, तहार सुक्रिया बा।’

मीठा हलवा नमकीन आंसुओं में घुल रहा था।

‘दादाजान, आज आप कोई नई कहानी सुनाएंगे।’ रेशमा बोली।

‘सोचने दो।’ जहूर मियां बोले।

‘पुरानी कहानी को नई मत बना दीजिएगा, हम समझ जाएंगे।’ तनवीर बोला।

‘कुछ सोचने दो मुझे...ठीक है आज मैं वह कहानी तुम्हें सुनाऊंगा जो मुझे मेरी दादी सुनाती थीं।’

‘ठीक है दादाजान, चलेगी।’ रेशमा ने गर्दन हिलाई।  
जहूर मियां को कहानी कहां से याद आती। उन्हें तो इस बात पर हैरत हो रही थी कि आज उनके कमरे में कैसे महलका ने बच्चे भेज दिए?  
अभी वह कहानी सुनाना शुरू ही करने वाले थे कि फोन की घंटी बज उठी।  
‘हम जाएं?’ रेशमा ठुनकी उनको फोन उठाता देखकर।  
‘ठहरो अभी।’ उन्होंने हाथ के इशारे से उन्हें रोका।  
‘हलो, कईसन बाड़अ बबुआ? जियत रहा।’  
‘हम एकदम ठीक बानी, तू कईसन बाड़अ, तहार चशमा ठीक से बन गईला की न?’  
बेटे के पूछने पर उनका गला रुंधा मगर गला साफ कर चहके, ‘अरे बेटा, लाजवाब है, जुग-जुग जियो...महलका मेरा बहुत खयाल करती है। मुझे किसी वक्त अकेला नहीं छोड़ती। यकीन न हो तो देखो, तुम्हारे तीनों जिगर के टुकड़े मेरे बिस्तर पर जमे हैं। मुझसे कहानी सुनने की जिद कर रहे हैं।’  
‘हां पापा, हमको आज मम्मी ने भेजा है।’ बड़े पोते अनवर ने एकाएक दादा से फोन छीनकर कहा।  
‘कैसे हो तुम? अब दादाजान को फोन दो, मैं तुमसे कल बात करूंगा, शाबाश!’ पोते ने दादा को फोन लौटा दिया।  
‘हां, अब्बा, मैंने त्रिपाठी जी के क्लीनिक में फोन किया था। कंपाउंडर बता रहा था कि आप कई महीनों से अपने चेकअप के लिए नहीं गए हैं। मेरे अच्छे अब्बा! ऐसा मत करें। आपका साया हम सबके लिए बहुत जरूरी है। आप नहीं जानते आपकी शिफकत के लिए मैं यहां कितना तड़पता हूँ। और...’  
‘परेशान न हो, मैं कल ही जाऊंगा।’  
‘हम माहेलका कह देब, उफ खुदे तहरा के लेके जाई।’  
‘ठीक बा बेटा अपन खयाल रखींहा। खोदा हाफिज।’  
इसी तरह की कुछ और बातें करके बाप-बेटे ने एक-दूसरे से खुदा हाफिज कहा। बड़े मियां का दिल खुश था। चुल्लुओं खून बढ़ गया था जो किसी भी बढ़िया टॉनिक से हजार गुना बेहतर था।  
‘चलो, उठो बात हो गई है।’ बड़ा पोता बोला।  
‘क्यों, कहानी नहीं सुनोगे तुम लोग?’ जहूर मियां ने हैरत से पूछा।  
‘नहीं दादाजान, नींद आ रही है, मम्मी ने कहा था फोन सुनकर फौरन वापस आना।’ रेशमा बोली।  
जहूर मियां के चेहरे पर जो अनार खिला था, पोती की बात सुनकर बुझ गया। चेहरे पर खौफ का या फिर सदमे का पीलापन फैल गया। बच्चे एक-एक करके कमरे से बाहर निकले और गोलू कमरे में दाखिल होकर बोला ‘अम्मां, अपन मोबाइलवा वापस मांगत तारी।’

से पहुंच रही थीं। उसकी लाल डोरे पड़ी आंखों के आंसू थम गए थे। उनमें हैरत भरी वीरानी फैल रही थी।

‘खुदकुशी...पापा... उसके पुरसुकून मिजाज पापा ऐसा कर सकते हैं?’ उसका रोआं-रोआं कांप रहा था। उसकी आंखों से वह सच छुपा था जो तकरार के बाद खामोशी से मां-बाप के बीच पेश आया था। उसे तो सिर्फ सुने अलफाजों का सच मालूम हुआ था जो उसे ऊपर से नीचे तक झिंझोड़ गया था। बचपन से ऐसी झड़पें सुनने की वह आदी थी मगर...बात आज हद पार कर गई थी।

‘इस घर में अब क्या होने वाला है? मम्मी की जिद कहीं उसके पापा को सचमुच उससे दूर न ले जाए। बेहतर है कि वह अपनी जान की कुर्बानी देकर मां को हमेशा के लिए एक सबक सिखाया जाए...! शायद यही राह इस माहौल में, मुझे चुननी होगी जो घर में हमेशा के लिए सुकून ला सकती है और पापा...उन्हें मेरी उम्र लग जाए।’

‘माजदा! दरवाजा खोलो...माजदा बेटी।’ पापा की आवाज गूंजी।

‘माजदा...’ मम्मी की आवाज के साथ ही दरवाजे पर दूसरी थाप पड़ी तो उसकी जड़ता टूटी। वह अपनी जगह से उठी और मरे कदमों से दरवाजे की तरफ बढ़ी। खुले दरवाजे के सामने उसके मां-बाप खड़े थे जिनके चेहरे आंसुओं से धुले नजर आ रहे थे। उसके अंदर कुछ उछला मगर वह पूरी ताकत से उसे निगल गई।

‘मेरी बच्ची!’ मम्मी आगे बढ़ उससे लिपट गई। जबकि वह पापा से लिपटना चाहती थी आखिरी बार। कल सुबह तो वह होगी नहीं। उसकी आंखें इस खयाल से भर आईं।

‘तेरी मां को होश आ गया है मेरी लाडो।’ मां उसके गालों पर प्यार कर रही थी। तेरी मर्जी से बढ़कर मेरे लिए और कुछ नहीं है। यकीन कर मेरी नाजो।’ वह जज्बाती लहजे में बड़बड़ाए जा रही थीं।

‘पापा!’ उसके मुंह से दर्द भरी आवाज उभरी।

‘जाने पापा!’ अमजद ने अपने दोनों हाथ फैला दिए। मां से अलग हो वह बाप की तरफ लपकी और उनके सीने से लगकर फूट पड़ी।

‘नहीं पापा, नहीं...कभी नहीं पापा!’ वह अपनी रौ में कहे जा रही थी।

‘जाने पापा...’ अमजद का गला रुंध गया।

‘पापा...आप...’ इतना कहते-कहते माजदा रोते-रोते नीम बेहोश सी हो गई। अमजद और महजबीं जवान बेटी की यह हालत देख घबरा गए।

‘क्या उसने सब कुछ सुन लिया है?’ अमजद ने अपने आप से पूछा।

‘क्या हुआ?’ बौखलाई-सी महजबीं जम-सी गई। चुल्लू में पानी भर बेटी के चेहरे पर छींटे मारे तो वह होश में आई मगर कस के अमजद से लिपट गई और सुबकने लगी। अमजद बेटी का सिर सहला रहे थे। उनकी आंखों से आंसू की बूंदें टपक रही थीं जो बरसों से उनके अंदर एक तालाब की शकल में जमा थीं। उनके दिल में कितने घाव थे जो रोज रिसते थे जिनका उपचार घरेलू था मगर घर में तो घमासान युद्ध छिड़ा होता। जिस तरह एक कंकड़ ताल में फेंकने से लहरें बनती हैं, वही हाल घर का था। उन्हें याद आ रहा था कि बरसों पहले महजबीं का दाखिला घर में जितना अरमान भरा था कुछ दिनों बाद उतना ही लानत से भरा साबित हुआ। मुहब्बत जैसे रूठ गई थी,

नफरत ने अपने डैने फैला लिए थे। कोई दिल ऐसा न था जो जख्मी न हो और भाभी-भैया जीत गए। अम्मा-अब्बा अपना घर-मोहल्ला छोड़ उनके साथ अमेरिका जा बसे। ऐसा बसे कि बस ईद-बकरीद पर फोन पर बात होने के अलावा उनका कुछ भी साझा नहीं रह गया था। यहां तक कि उनकी दुआएं भी...तभी तो महजबीं बेलगाम घोड़ी की तरह बेकाबू होकर मनमानी पर उतर आई थी।

‘बस बेटी, बस।’ अमजद ने बेटी को अपने से अलग कर उसे कुर्सी पर बिठाया, मां ने आगे बढ़कर जग से गिलास में पानी उड़ोला और बेटी की तरफ बढ़ाया।

‘घूंट भरो, घूंट।’ अमजद ने कुछ इस तरह कहा जैसे बचपन में स्कूल जाते हुए उसको गिलास से दूध पिलाते थे।

‘पापा...’ सुबकती हुई माजदा एकदम से हंस पड़ी।

‘तेरी आंखों के ये आंसू बहुत कीमती हैं। बेकार में इन्हें बहाकर इनकी कीमत कम मत कर मेरी रजिया सुल्तान।’ अमजद ने उसे उस ड्रामे की याद दिला दी जो वह स्कूल में खेल चुकी थी।

‘तेरी मां, तेरी दुश्मन नहीं है, ममता में अंधी होकर मैं गलत तौर-तरीका अपना बैठी थी। खुदा की बारगाह में गिरकर उनसे अपने गुनाहों की माफी मांगूंगी मगर पहले, हां पहले मैं तेरा शुक्र अदा कर दूँ जो तूने मुझे दोख की आग में जलने से बचा लिया। सही कहते थे अब्बा मरहूम कि बचपन में जिस तरह जवान मां-बाप बच्चों को चलना, बोलना सिखाते हैं, सही और गलत की समझ देते हैं, ठीक उसी तरह जवान होकर बच्चे बूढ़े मां-बाप की देखभाल कर उनको सेहतमंद सोच देते हैं।’ इतना कहकर महजबीं ने माजदा का माथा चूमा।

‘मम्मी।’ माजदा मां की कमर में अपनी बांहें लपेट उनके सीने से जा लगी फिर धीरे से बोली, मम्मी, अप्पी को बचा लो, वह अंधे कुएं की तरफ बढ़ गई हैं।’

‘जरूर, उसका रास्ता मैं ही मोड़ूंगी, मुझ पर यकीन रखो।’ लंबी सांस ले महजबीं ने बड़े यकीन भरे लहजे से कहा।

‘चलो, अरसे बाद हम एक साथ सत्तू पीकर जश्न मनाएं, क्यों महजबीं?’ अमजद ने माहौल को तोड़ा जरूर मजाक करके, मगर दिल पर शंका के बादल उसी तरह घिरे रहे। महजबीं ने होंठ दबा गर्दन हिलाई और आंसू पीती हुई कमरे से निकल बावर्चीखाने की तरफ बढ़ीं। सुबह से किसी ने कुछ खाया नहीं था। उसे आज शौर के इस तरह छेड़ने में पहली बार मजा आया था वरना सत्तू के नाम से वह सिर्फ चिढ़ती नहीं, लड़ पड़ती थीं मगर आज वह तीन गिलास सत्तू बड़े मन से बना रही थीं।

रात ढल रही थी। अमजद गहरी नींद में सो रहे थे। पिछले कई सालों से वह दूसरे कमरे में सो रहे थे। उनकी हैसियत इस घर में किसी अजनबी जैसी रह गई थी जिसे खुद उन्होंने अपनी पसंद से चुना था। शुरू-शुरू में महजबीं को गुस्से के दौर पड़े मगर बाद में उनके इस ठंडे फैसले ने कि बैठे मेरे ठेंगे पर, मुझे भी कौन सी मुसीबत घेरे है जो उनकी खुशामदें कर अपनी जबान सुखाऊं। चैन से हाथ-पैर फैला अकेली छप्परखट पर लेटूंगी, दोनों के बीच बर्फ की बड़ी सी सिल रख दी थी। बिस्तर पर बैठी महजबीं की आंखों से नींद कोसों दूर थी।

‘उनकी आंखों के सामने से उसकी अपनी जिंदगी किसी फिल्म की तरह गुजर रही थी। उन्हें

आज अपनी सास, ननद और जेठ-जेठानी का मुहब्बत भरा बर्ताव समझ में आ रहा था। उन्होंने खुद अपनी जन्नत में अपनी नासमझी से आग लगाकर उसे जहन्नम में बदला था। वह ब्याहकर आई थीं। कमसिन थीं। उन्हें नए घर में उनके मुताबिक चलना था, गुलाम बनकर नहीं बल्कि उस घर का एक फर्द बनकर मगर उन्होंने हमेशा यही याद रखा यह सब हमारे घर में नहीं होता था। मुझसे नहीं होगा। मैं तो ऐसा ही करूंगी, जो करना है कर लो।’

‘यही सब मैंने बेटी को ससुराल जाने से पहले समझाया था कि हर जगह अपनी मनवाकर दम लेना। पहली रात ही तनख्वाह अपने हाथ में लेने का वायदा ले लेना मगर याद रहे ये पांचों लड्डू किसी न किसी बहाने खिलाकर दम लेना, कमाल तो तुम दूसरे दिन देखोगी जब वह बहन, बाप और बाकी सबके लिए तोताचश्म बन जाएगा। यह तावीज उसके तकिये में सिल देना और बिना अपनी बात मनवाए उसकी एक बात न मानना...’

महजबी ने गहरी सांस ली और अमजद के चेहरे की तरफ निगाहें घुमाईं। कुछ पल अंधेरे में टटोलती नजरों से उन्हें देखती रही फिर आह भरकर दिल ही दिल में कह उठी, ‘शाबाश मेरे शेर! खूब झेला मेरी चिंघाड़ों और तेज पंजों की खरोंचों को, अगर कोई और होता मर्द का बच्चा, तो ले आता किसी और को या फिर बिना निकाह के डाल लेता अपनी पसंद की कोई और...लेकिन यह वफादार रहा। मेरी सास ने भी कभी इनको बहकाया और मजबूर नहीं किया। जेठानी ने भी कभी जानबूझकर मुझे नीचा नहीं दिखाया मगर मुझे हमेशा लगता था कि इनके दिल में खोट है। आखिर क्यों? क्यों मैं इस तरह की हरकतें करती थी? इसकी वजह क्या थी?’

महजबी गहरी सोच में डूब गईं।

उसका जेहन यादों की तहों को खोलने लगा।

कुछ लम्हे बाद एक धुंधला-सा चेहरा उभरा साथ में सिसकने की आवाज, कुछ फुसफुसाहटें। महजबी ने बेचैनी-सी महसूस की। दिमाग पर जोर डाल वह यादों की सुरंग में गहरे उतरने लगी। धुंधला चेहरा और फुसफुसाहटें उसकी कनपटी के पास वाली रग की तपकन बन फड़कने लगीं। उसने आंख बंद कर उंगलियों से कनपटी को दबाया...जोर से दबाया। एकाएक उसके जेहन में बिजली-सी कौंधी। धुंधलाया चेहरा साफ और रोशन उसे नजर आया।

वह फूफी का चेहरा था। सबसे छोटी फूफी का चेहरा।

उनके सारे जेवर और जहेज ससुराल वालों ने रखकर उन्हें वापस मायके भेज दिया था। वजह तो वह नहीं जान पाई थी मगर जब भी उसकी नींद टूटती तो उसके कानों में सिसकियों की आवाजें सरसरातीं। ‘हम बहनों के साथ लेटी फूफी पता नहीं क्या-क्या याद करके रोती रहती थीं।’

फिर एक दिन वह उठीं नहीं, दिन चढ़ आया था, धूप छिटक गई थी।

जब उन्हें दादी जगाने गईं तो छाती पीट वहीं बेहोश हो गई थीं।

वह पहली मौत थी जो महजबी ने देखी थी।

घर में सन्नाटा छाया रहा अरसे तक। कोई फूफी या उनकी अचानक मौत के बारे में कुछ नहीं बोलता था। सबकी आंखें या तो सुर्ख रहतीं या डबडबाई रहतीं। उस मरे-मरे माहौल में महजबी जवानी की तरफ धीरे-धीरे बढ़ रही थी। इस उलझन भरे दबाव के साथ कि ससुराल कोई अच्छी जगह नहीं होती है। जब कोई शादी होती, वह दुलहन को देख भय से सोचती, अब इसका क्या होगा?



उसे याद आया कि एक दिन हिम्मत करके उसने मां से पूछा था  
 'क्या हुआ था फूफी को?'  
 'कुछ तो नहीं?'  
 'फिर अचानक वह मर क्यों गई?'  
 'मौत ऐसे ही आती है।'  
 'नहीं, तुम मुझसे कुछ छुपा रही हो, बोलो न?'  
 'छोड़ो ये बातें, जाकर होमवर्क पूरा करो।'  
 'वह ससुराल से क्यों निकाली गई थीं?'  
 'जिद क्यों कर रही हो?'  
 'इसलिए कि वह रोज रात को मेरे ख़ाब में आती हैं। उनके रोने से मेरी नींद टूट जाती है।'  
 'ओह!'  
 'हां, अब तो बता दो!'  
 'पता नहीं तू कितना समझेगी?'  
 'मैं समझूंगी क्यों नहीं, अब मैं बड़ी हो गई हूं।'  
 'बेमेल शादी थी।'  
 'मतलब?'

'तेरे फूफा को फूफी पसंद नहीं थीं। उनके घर वाले भी फूफी पर जुल्म करते थे। ढेरों काम करवाते, जरा सी गलती पर सलवातें सुनते। तेरी फूफी अपनी सफाई में मुंह न खोलतीं। उन्हें कुछ समझ में ही नहीं आता था कि किसको कैसे संभालें। उनकी हर बात में ऐब निकालते थे। फिर तेरे फूफा को बाहर की नौकरी मिल गई और उनके जाते ही ससुराल वालों ने उन्हें मायके भेज दिया।'

'अच्छा!' महजबीं को याद आया कि उनके मुंह से सिर्फ इतना निकला था मगर अंदर दुःख और गुस्से का ज्वालामुखी खदबदाने लगा था। उन्हें शादी, ससुराल, शौहर, ननद और सास-ससुर के नाम से सख्त नफरत हो गई थी। उन्हें याद आया जब वह विदा हो रही थी भय और सवालियों में उलझी हुई थी, उन्हें मां की सीख सुनाई पड़ी थी, 'महजबीं, ससुराल में सबकी खिदमत करना, सास-ससुर को मां-बाप समझना और कड़वे घूंट को शरबत की तरह पीना...'  
 तब उन्होंने शिकायती नजरों से मां को घूरा था और दिल ही दिल में कसम खाई थी 'हरगिज नहीं...कभी नहीं।'

उन्हें मां और बाप से शिकायत थी कि उनके न चाहने पर भी उनकी शादी कर दी और अब उसे दकियानूसी सोच दे रहे हैं। फूफी का बदला लेना है। इन ससुराल नाम के इंस्टीट्यूशंस से बगावत करनी है। जहर खाकर फूफी की तरह मरना नहीं...मरना नहीं। तब उनके आंसू अचानक रुक गए थे। उनके अंदर के भय की जगह एक तरह का विश्वास उभरा था।

'ठीक कर दूंगी सबको।'

उस जिद ने, उस कुंठा ने उनकी आंखों के सामने कैसा पर्दा डाल दिया था। उन्हें वह सब दिखता जो वे सोचती थीं। वह सब कतई नजर न आता जो हकीकत थी।

'या खुदा यह बचपन, बचपन की यादें, अच्छे-बुरे अनुभव कैसे इनसान की सोच पर हावी हो

जाते हैं। उन यादों ने मेरी आधी से ज्यादा जिंदगी तबाह कर दी। मुझे दूसरों की जिंदगी में दखल देने और उकसाने के लिए मजबूर कर बैठे और...और मैं अपने घर को राख कर बेटी के घर में आग लगाने की कोशिश में जुट गई? माफी मेरे खुदा!

महजबी ने अपने घुटनों पर सर रख दिया।

चंद लम्हे उसी तरह बैठी रहीं, फिर धीरे से बुदबुदाई, 'मैंने तहे दिल से अपने गुनाहों के लिए तौबा की है।'

महजबी के दिल का बोझ उतर गया। दिल व दिमाग में सुकून छा गया। पलकें भारी होने लगीं। अभी पलक झपकी ही थी कि जहन में सवाल कौंध गया।

'यह राशिद कौन है, उसका महलका से मिलना-जुलना कब हुआ?'

नींद काफूर हो गई। उसने करवट बदली। तकिया को दोहरा किया मगर चैन नहीं मिला। उसने साइड टेबल से मोबाइल उठाया और बटन दबाकर वक्त देखा। सुबह के चार बजे थे।

'अब सोना बेकार है।'

बिस्तर से उठकर उसने अंगड़ाई ली। अपने को जिस्मानी तौर से जितना थका महसूस कर रही थी उतना ही जहनी तौर पर हलका। बावर्चीखाने की तरफ बढ़ी तो देखा वहां रोशनी हो रही है।

'कौन होगा? माजदा...इतनी सुबह?'

बावर्चीखाना खाली था। चाय की केतली और बिस्कुट का डिब्बा गैस के चूल्हे के पास स्लैब पर पड़ा था।

उसने केतली भरी जो हलकी सी गर्म थी। उसने गैस पर पानी रखा और माजदा के कमरे की तरफ बढ़ी। माजदा जाग रही थी। मेज पर झुकी कुछ लिख रही थी।

'माजदा!'

'जी।' माजदा चौंककर मुड़ी।

'चाय बनाने जा रही हूं, तुम लोगी?'

'आप बैठिए मम्मी, मैं बनाती हूं,' माजदा कलम बंद करती हुई उठी।

'सारी रात पढ़ती रही हो?'

'नहीं, पता नहीं कैसे तीन-साढ़े तीन बजे नींद टूटी फिर नींद ही नहीं आई। सोचा नोट्स ही पूरे कर लूं।'

'चलो, हम दोनों बढ़िया नाश्ता तैयार कर अमजद को सरप्राइज देते हैं।'

'वंडरफुल, मजा आएगा!' माजदा हंस पड़ी।

दोनों किचन में व्यस्त हो गईं।

पौ फट चुकी थी।

अमजद आदत के मुताबिक नमाज के वक्त उठे और नमाज पढ़ने के बाद टहलने वाले जूते पहनने के लिए पलंग के नीचे झांका तो वहां जूते नहीं थे। याद आया कि वह तो दूसरे कमरे में होंगे। वे कमरे से निकले तो देखा खाने की मेज सजी हुई थी। पास पहुंचकर जो हॉटकेस खोला तो सूजी के हलवे की वही मानूस खुशबू से उनका चेहरा खिल उठा। दूसरे हॉटकेस में आलू के कतले

वाली सब्जी थी।

‘कहां हो तुम महजबीं?’ उनके मुंह से निकला।

‘आप जाग गए?’

‘गुडमॉर्निंग पापा!’

‘वेरी गुडमॉर्निंग! तुम लोग बड़ी जल्दी उठ गईं आज?’

‘मैं तो सारी रात सोई ही नहीं।’

‘आखिर क्यों?’

‘पुराने जाले साफ करती रही?’ हँसी महजबीं।

‘कहां के?’

‘दिमाग के।’

‘अच्छा यह बताओ अगर आज टहलने न जाऊं तो...’

‘तो कौन सा आसमान टूट पड़ेगा? हम पहले नाश्ता करते हैं फिर तीनों मिलकर सुबह की सैर को जाएंगे।’ महजबीं का पैफसला अभी पूरा सुनाया भी नहीं गया था कि अमजद कुर्सी घसीटकर बैठ चुके थे और प्लेट सीधी करके नाश्ता निकालने लगे। अरसे बाद आज की सुबह उन्हें अपनी सी लगी थी।

दोपहर को तीनों बाजार की तरफ निकले ताकि शादी की बाकी खरीदारी पूरी कर ली जाए। रोज की तरह आज कार ड्राइवर नहीं चला रहा था, न महजबीं पीछे की सीट पर अकेली बैठी थीं। आज वह आगे की सीट पर अमजद के पास बैठी थीं जो कार चला रहे थे और पीछे की सीट पर माजदा बैठी खरीदारी की लिस्ट देख रही थी।

‘मम्मी, अप्पी को भी साथ ले लेतीं।’

‘आज नहीं, परसों वह हमारे साथ होगी।’

‘आज क्यों नहीं?’ अमजद ने महजबीं से पूछा।

‘है कुछ बात, कल सुबह हम दोनों पहले उसके घर जाएंगे फिर बाकी काम निबटाएंगे।’

‘जैसी तुम्हारी मर्जी।’

‘मम्मी, कल मेरे कॉलेज का आखिरी दिन है और...’

‘तुम कल हमारे साथ नहीं चलोगी, अपनी सहेलियों को ‘गुडबाय’ करके आना फिर शाम की शाम को देखी जाएगी।’

‘वह लड़का...?’ एकाएक पास से गुजरती मोटरसाइकिल पर राशिद को बैठा देखकर महजबीं चौंक पड़ी तो अमजद ने गर्दन घुमा बीबी को देखा।

‘वह लड़का देखा-देखा सा लग रहा है।’ महजबीं ने सफाई दी।

‘उसने हेलमेट पहन रखा है, कैसे लड़का देखा-देखा लग रहा है?’ अमजद चिढ़कर बोले।

‘अरे, राशिद की मोटरसाइकिल का नंबर और टी-शर्ट पर छपी यह तस्वीर...मुझे याद है उस दिन जब घर आया था तब यही टी-शर्ट पहने था।’

‘बेचारा! उसके पास यही एक टी-शर्ट पहनने की हो सकती है।’ अमजद ने मजाक में कहा तो माजदा हंस पड़ी।

बाजार करीब आ चुका था। उसकी रोशनी जगमगा रही थी। कार तेजी से उस तरफ मुड़ी।

‘देखते-देखते अपना बाजार क्या से क्या हो गया है। हर चीज मिल जाती है।’

‘लोगों में खरीदी का शौक बढ़ा है।’

‘हां, यह नकली नोटों का नहीं बल्कि यह कमाल बाहर से आई करेंसी की वजह से है। कहते हैं मिडिल ईस्ट से कारीगरों और मजदूरों का भेजा मेहनताना करोड़ों के करीब है।’ अमजद ने तीखे लहजे में कहा।

‘हां भई, बहुतों के रंग-ढंग बदल गए। एक से एक घर बन गए। अच्छा है।’ महजबी ने धीरे से कहा।

‘तुम लोग उतरो, मैं कार पार्क कर आता हूं।’ अमजद ने गाड़ी रोकी। दोनों मां-बेटी पर्स संभालती नीचे उतरिं और सड़क पार कर एक दुकान के सामने खड़ी हो अमजद का इंतजार करने लगीं।

आज रात भर जागने की बारी शायद अमजद की थी।

वह गहरी सोच में डूबे थे। उन्हें एक खयाल बेचैन किए हुए था कि क्या सचमुच महजबीं बदल गई है या बेटी के शादी से इनकार और मेरी धमकी से डरकर उसने सिर्फ कुछ दिनों के लिए यह रूप धरा है?

‘अगर उसने अंदर-अंदर वह सब किया जिसकी उसे पिछले पंद्रह सालों से आदत पड़ चुकी है तो...?’

पिछले कई सालों से जिंदगी नाइटमेयर बनकर रह गई थी। तो क्या यह बदलाव भी सिर्फ एक छलावा भर है?

इस ख्वाब की भी कोई ताबीर होगी या फिर बाकी बची जिंदगी नाइटमेयर की तरह गुजरने वाली है?

●

(उपन्यास ‘कागज की नाव’ किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशनाधीन है)

## कहानी

# भले लोग

सुबोध कुमार श्रीवास्तव

एक छोटा शहर। पिछड़ा आदिवासी बाहुल्य जिला। तीन ओर से सतपुड़ा की पहाड़ियों से घिरा चिड़िया के सुंदर घोंसले की तरह लुभावना। मुझे सजा के तौर पर यहां भेजा गया था लेकिन एक माह यहां रहने के बाद मेरा मन बदल गया और मैंने वापस अपने शहर लौटने के लिए किए जा रहे प्रयासों पर विराम लगा दिया। यूं भी यह मुश्किल काम था। देश में ही नहीं, हमारे प्रांत में भी सरकार बदल चुकी थी और नई सत्ता उन सरकारी कर्मचारियों के पीछे भूत की तरह पड़ी थी, जिन्हें वह स्थानीय स्तर पर भी खतरनाक मानती। भूत-प्रेतों की शंकर की बारात सामान्य नागरिकों से भयभीत थी। एक-दूसरे से मिलने पर हम 'जय श्री राम' की जगह 'जयहिंद' बोलने वाले इस देश के आम नागरिक थे। भूतप्रेत लोगों को जबरन डराते हैं, उन्हें बिना वजह परेशान करते हैं। यह बात प्रमाणित हो चुकी थी। मैं सजा भुगतने के लिए तैयार था। मुझे इस नए शहर में अपनी जगह बनानी थी।

मेरी जान-पहचान का कोई व्यक्ति यहां नहीं था और मैं पिछले पंद्रह दिनों से स्टेशन के पास की एक छोटी लॉज में रुका था। पांच रुपए रोज के किराए के एक कमरे में यानी आठ गुणा छः फीट के फलाई के एक पार्टीशन में। वेतन का चौथाई हिस्सा किराए में जा रहा था और मैं जोर-शोर से दो कमरे के एक छोटे मकान की तलाश में था। यदि एक सौ रुपए महीने पर भी दो छोटे कमरे या एक बड़ा कमरा किराए पर मिल जाता तो मुझे कुछ तो राहत मिलती और मैं अपने शहर में मां को कुछ अधिक रुपए भेज सकता था। जो छोटी बहन के कारण वहां ही रह रही थी।

सुबह सात से लेकर दोपहर बारह-एक बजे तक तो कॉलेज में रहता और फिर निकल पड़ता मकान की तलाश में। इस बीच लॉज के मालिक मन्नू लाल से, जो हम उम्र ही था, दोस्ती हो गई और वह मुझे खाली मकानों का अता-पता देता रहता। शहर तीन हिस्सों में विभाजित था और मैं अपनी साइकिल पर निकल पड़ता मकान की खोज में। कभी-कभी कोलंबस की याद आती और मैं मन ही मन मुस्करा पड़ता। किराए पर मकान मिल भी रहे थे पर उनका किराया दे सकने की अपनी औकात नहीं थी और जो मेरी जेब के दायरे में थे उनमें शौचालय का प्रावधान न था। देश की आजादी के लगभग तीन दशक बाद भी उस शहर के कुछ मकान मालिक इस सुविधा को अनावश्यक मानते थे। तब उस शांत शहर में खुले और दूर-दूर तक फैले मैदानों की कमी नहीं थी। मकान न मिलने की एक वजह यह भी थी कि मैं अविवाहित था और लोग पैंतीस साल के कुंवारे लड़के को कौतुहल और संदेह की नजर से देखते। जिस मकान मालिक के घर पर क्वारी लड़कियां होतीं, वह पहले मेरी

जाति पूछता और स्वजाति का न पाकर अपने हाथ जोड़ लेता।

पढ़ाई-लिखाई के लिहाज से कॉलेज का वातावरण ठीक-ठाक था। शिक्षक पूरी ईमानदारी के साथ अपनी कक्षाएं लेते। छात्रों की उपस्थिति भी शानदार। मुझे तीन कक्षाएं लेनी होती। जब खाली होता, मैं स्टॉफ रूम में बैठता, जहां कुछ और भी प्राध्यापक होते। उन दिनों कुछ पत्रिकाओं के तंत्र-मंत्र, जादू-टोना, भूत-प्रेत, रहस्य-रोमांच से भरे विशेषांक प्रकाशित हो रहे थे। शिक्षक-शिक्षिकाएं फुरसत के क्षणों में इन पर चर्चा करते। भूत-प्रेतों की कहानी सुनते-सुनते अपना समय बिताते। वह समय ऐसा था जब शिक्षक स्थानीय, प्रांतीय या राष्ट्रीय राजनीति पर बहस करते हुए डरते लेकिन भूत-प्रेतों के किस्सों का मजा लेते।

मेरे विभागाध्यक्ष जैन सर को भूतों और चुड़ैलों के किस्सों से बड़ा रस मिलता। उन्हें लुभाने और अपनी पैठ जमाने के लिए मैं वहां बैठे-बैठे भूत-प्रेत का कोई किस्सा गढ़ता और यह कह कर कि यह घटना मेरे साथ घटी थी, उन्हें सुना देता। मेरी मनगढ़ंत भूत-कहानी वे बार-बार सुनते और दूसरे साथियों की उपस्थिति में मुझसे पूछते, 'तुम्हें डर नहीं लगा जब उस भूत ने पेड़ पर बैठे-बैठे अपने दोनों हाथ तुम्हारी ओर बढ़ाए? वे मेरी बगल वाली कुर्सी पर बैठ जाते।

और मैं सबके सामने वह झूठी कहानी सुनाने लगता- मैं कॉलेज में पहुंच चुका था और पास के ही एक बड़े शहर में हॉस्टल में रहकर पढ़ रहा था। छुट्टियों में ही घर आ पाता। दीवाली पर घर आया। बड़े शहर की हवा तो लग ही चुकी थी सो एक दिन सिनेमा देखने चला गया, यह भूलकर कि इस घर में किसी को भी रात नौ बजे के बाद घर से बाहर रहने की अनुमति नहीं दी जाती, बिना ताऊजी की इजाजत के कोई सिनेमा नहीं देख सकता। रात को साढ़े ग्यारह बजे मैं घर वापस आया और साइकिल एक ओर टिकाकर बाहर के दरवाजे की कुंडी खटखटा दी। दरवाजे ताऊजी ने ही खोले और मुझसे कुछ पूछे बिना मेरे गाल पर दो जोरदार तमाचे जड़ते हुए गुस्से से बोले, 'बड़े शहर में रहकर तुम बिगड़ गए हो। मुझसे बिना पूछे सिनेमा देखने चले गए। पैसों को फिजूल उड़ाते हुए तुम्हें शर्म नहीं आती। वे शायद मेरे वापस आने की राह ही तक रहे थे। उन्होंने भड़ से किवाड़ बंद करते हुए कहा, 'अब तुम रात भर घर के बाहर ही रहो। यही सजा है तुम्हारी।'

मैंने परिवार का अनुशासन तोड़ा था सो सजा तो मिलनी ही थी लेकिन युवा उम्र का गर्म खून नसों में बह रहा था तो गांव की ओर बढ़ लिया, साइकिल पर। जब मैं एक छोटी टार्च थी। करीब दस मील की दूरी पर हमारा गांव था, जहां छोटे चच्चा रहकर खेती-बाड़ी की देखभाल किया करते। शहर में जहां-तहां बिजली के बल्ब टिमटिमाते रहते पर दस मील के सफर का साथी तो अंधकार ही था। पांच-छह मील का रास्ता तो आराम से पार किया जा सकता था, पक्की सड़क जो थी लेकिन चुंगी नाका के बाद की सड़क कच्ची और ऊबड़-खाबड़ थी। इस सड़क पर दो मील चलने के बाद बाईं ओर मुड़ना पड़ता। गांव तक पहुंचने के लिए दो नाले भी पार करने पड़ते और रास्ते में मरघट भी पड़ता, जहां आसपास के गांवों के मुर्दे जलाए जाते और कोई न कोई चिता धधकती रहती। रात लगभग बारह बजे अकेले गांव जान की कोई सोच भी नहीं सकता था लेकिन ताऊजी के दो करारे तमाचों की घनीभूत पीड़ा ने गांव जाने के मेरे डर को पीछे ढकेल दिया।

मैंने चुंगी नाका पार किया यानी आधा रास्ता। अब आगे अँधेरा ही अँधेरा। पांच दिन बाद दीपावली थी। चुंगी नाके पर जो गैसबत्ती जल रही थी, उसके प्रकाश के हल्के धब्बे भी पीछे छूट गए। कुछ आगे बढ़ा तो देखा कि एक पेड़ की डाल हिल रही है, ऊपर-नीचे हो रही है। सड़क किनारे

लगे उस पेड़ की डाल कभी बीच सड़क को छूती तो कभी आसमान को भेदती। मैंने ब्रेक लगाकर साइकिल रोकी और एक पैर जमीन पर टिका दिया। पेड़ की वह डाल अपना करिश्मा दिखला रही थी यानी ऊपर-नीचे हो रही थी जबकि उसी पेड़ की अन्य डालें स्थिर थीं। एकदम शांत। उनके पत्ते भी नहीं कांप रहे थे। आसपास के अन्य पेड़ भी शांत थे। हवा भी नहीं चल रही थी। मुझे आश्चर्य हुआ। जब मैं हाथ डालकर टार्च निकाली और उस पेड़ की ऊपर-नीचे होने वाली डाल पर रोशनी फेंकी। जो देखा, वह एक अजूबा था और मेरी घिघ्मी बंध गई।....यहां तक कहानी आगे बढ़ती और जैन सर अपनी कुर्सी खींच कर मेरे और पास आ जाते। युवा मीनू मैडम एक लंबी सांस भरती और बड़ी-बड़ी आंखों में समाए डर को किनारा कर देने का प्रयास करते हुए पूछती, 'सर, क्या देखा आपने? जल्दी बतलाइए न, घुकधुकी लगी है।'

मैंने इस अंतराल में आगे की कहानी की बुनावट कर ली, 'उस मोटी डाल पर एक बूढ़ा व्यक्ति बैठा हुआ था। उसने दूधिया रंग का सफेद चौगा पहन रखा था और वह पैरों से लेकर गर्दन तक पूरी तरह ढका हुआ था। उसके सिर पर सफेद पगड़ी थी और बड़ी-बड़ी दाढ़ी-मूंछें। एकदम सफेद। उसकी दाढ़ी एक फुट लंबी तो रही ही होगी। वह विशाल व्यक्ति ही उस मोटी डाल पर बैठकर उसे पकड़कर ऊपर-नीचे कर रहा था। जब उस पर टार्च की रोशनी पड़ी तो वह हा...हा...हा... कर जोर से हँसा और उसने अपने दोनों हाथ मेरी ओर बढ़ा दिए। वह अपनी जगह बैठा रहा लेकिन उसके साथ लंबे होकर मेरी ओर बढ़ते ही रहे। मुझे लगा कि यह भयावह बूढ़ा आदमी भी मुझे ताऊ की तरह दो चाटे मारना चाहता है और मैं साइकिल वहीं गिराकर पीछे की ओर भागा। कुछ आगे बढ़कर मैंने पीछे मुड़कर देखा तो उस व्यक्ति के हाथ अभी भी मुझे पकड़ने के लिए आगे बढ़ रहे थे।

यहां मैं रुका और अपने दोनों हाथ जैन सर की ओर बढ़ा दिए फिर आगे बढ़ाई कहानी, हा. ... हा...हा... मैं तुम्हें छोड़ूंगा नहीं। तुम बिगड़ रहे हो। सिनेमा देखकर आ रहे हो। इस उम्र में निम्मी का 'डंका' देखोगे तुम। पढ़ाई-लिखाई, गई भाड़ में। तुम्हें दो तमाचे तो मैं भी मारूंगा... और मेरे गाल पर दो तमाचे पड़े भी।'

जैन सर ने मेरे दोनों हाथ पकड़ लिए और बोले, 'देखो, तुम मुझे डराओ मत। यह बतलाओ कि वह बूढ़ा कौन था? और यह निम्मी का 'डंका' क्या है?'

मीनू मैडम ने रूमाल से माथे का पसीना पोंछते हुए कहा, फिर उन दोनों लंबे हाथों का क्या हुआ? उस बूढ़े को यह कैसे पता चला कि आप सेकेंड शो सिनेमा देखने गए थे?'

मैंने दोनों की जिज्ञासा का समाधान एक साथ किया, 'डंका' एक पुरानी फिल्म का नाम है जिसकी नायिका अभिनेत्री निम्मी थी और उस रात मैंने वही फिल्म देखी थी। रही बात बूढ़े की, उसके लंबे हाथों, की, उसे इस बात की जानकारी की कि मैं सिनेमा देखने गया था तो यह तो आज तक मेरे लिए रहस्य ही है। किसी तरह दौड़ता-भागता मैं चुंगीनाका पहुंचा और वहां उपस्थित लोगों को आपबीती सुनाई तो वे हँसते लगे। मैं पसीने से लथपथ था और कांप रहा था। गनीमत यही कि मैं बेहोश नहीं हुआ।

चुंगी नाका के कर्मचारियों पर मेरी बात का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। एक ने मुझे पानी पीने के लिए दिया और दूसरे अधेड़ व्यक्ति ने मुस्कराते हुए कहा, 'अच्छे बाबा इसी तरह लोगों को सबक सिखाते हैं। महीने में दो-चार घटनाएं तो इस तरह की घट हो जाती हैं। तुमने कुछ गलत किया होगा सो उन्होंने तुम्हें सचेत किया है। वे किसी को भी इससे अधिक परेशान नहीं करते। मैंने कहानी



पूरी की।

जैन सर और मीनू मैडम ने एक साथ पूछा, 'लेकिन अच्छे बाबा थे कौन? वे लोगों को डराते क्यों थे?'

'यह बात तो नाके के कर्मचारियों को भी नहीं मालूम थी। लेकिन मैं समझता हूँ कि वे अच्छे बाबा ही रहे होंगे, तभी तो लोगों को सबक सिखाते थे। ताऊजी की तरह ही उन्होंने मेरे गाल पर दो चांटे जड़े और फिर मैंने तब तक कोई सिनेमा नहीं देखा, जब तक कि अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो गया और खुद नहीं कमाने लगा।

तो इस तरह की लपफाजी में बीत रहा था मेरा समय उस शहर में। घर की तलाश, अर्थहीन अतार्किक किस्से, लॉज-मालिक मन्नु के साथ गप्पें और अपने शहर, अपने घर की याद, मां और छोटी बहन के उदास चेहरे.....

और फिर एक दिन जैन सर ने मुझे भार्गव वकील के खाली मकान की जानकारी दी, 'उनका मकान पिछले कई वर्षों से खाली है। दो कमरे, रसोई, शौचालय। तुम्हारे लिए ठीक-ठाक रहेगा। वकील साहब वैसे तो मकान किराए पर उठाते नहीं है पर कोशिश कर लेने में हमारा क्या बिगड़ता है। कॉलेज भी पास पड़ेगा। यदि वे मकान दे देते हैं तो तुम्हें बड़ी सुविधा हो जाएगी।

दूसरे दिन शाम पांच बजे मैं भार्गव वकील के घर पहुंच गया। मेन गेट खोलकर अहाते में दाखिल हुआ और कुछ कदम आगे बढ़ाकर मुख्य दरवाजे की साकल खटखटा दी। कॉलबेल नहीं थी। एक वृद्ध सज्जन ने दरवाजे खोले। उनकी उम्र अस्सी वर्ष से अधिक की तो रही ही होगी। भौंहें तक सफेद थीं। खादी का कुरता-पाजामा, खादी की ही जवाहर जैकेट और सिर पर गांधी टोपी। पैरों में खादी भंडार में बिकने वाली चप्पल। सौम्य चेहरा। मैं वर्षों किसी गांधीमय व्यक्ति को देख रहा था।

अभिवादन करने के बाद मैंने उन्हें अपना परिचय दिया और उनके पास पहुंचने की वजह भी बतला दी। वे आराम-कुर्सी पर बैठ गए और मैं उनके सामने कुछ फासले पर रखी कुर्सी पर।

तो तुम इस शहर में कुछ दिन पहले ही आए हो। कॉलेज में लेक्चरर होके। किराए का मकान खोज रहे हो। पहले कहां थे तुम?' उन्होंने सामान्य से प्रश्न पूछे।

मैंने उन्हें अपने शहर का नाम बतलाया और यह जानकारी भी दे दी कि मैं भाग्यशाली हूँ कि जिस शहर में मैं पैदा हुआ, जहां पढ़ा-लिखा, उसी शहर में नौकरी भी मिल गई। वहां छोटा सा घर भी है। और मां व छोटी बहन भी वहां है। पहली बार तबादला हुआ है। मेरे तीन बड़े भाई अलग-अलग शहरों में हैं।

'यानी मकान मिल जाने पर तुम अपने परिवार को भी यहां ले आओगे? तुम्हारी पत्नी भी होगी, बच्चे भी होंगे?' उन्होंने पूछा।

यह सोचकर कि मकान किराए पर देने के पहले, वे मेरा पूरा भूगोल व इतिहास खंगाल लेना चाहते हैं, मैंने कहा, 'फिलहाल यहां परिवार लाने का कोई इरादा नहीं है। छोटी बहन वहां प्राइवेट स्कूल में शिक्षिका है, उसका तबादला तो यहां हो नहीं सकता। मां को भी उसके साथ ही रहना पड़ेगा। मैं अभी अविवाहित हूँ। पहले बहन की शादी करना चाहता हूँ। मुझसे आठ वर्ष छोटी है। जब मेरे पिता की मृत्यु हुई थी, वह साल भर की भी नहीं हुई थी। मां को भी बुढ़ापे की सामान्य बीमारियों ने जकड़ रखा है।' एक गहरी सांस भरते हुए मैंने कहा, 'जीवन है इसी तरह सीखते-सिखाते आगे

बढ़ता है।' मैंने इतना सब कुछ उन्हें इसलिए बतलाया ताकि मेरे प्रति उनके कुछ सहानभूति जाग उठे और वे मुझे अपना मकान किराए पर दे दें।

अपने इस प्रयास में मैं कुछ सफल भी रहा। उन्होंने कहा- 'तो तुम बचपन से ही संघर्ष करते आ रहे हो। बेटे, तुम्हारी सोच भी अच्छी है पहले छोटी बहन की शादी ...हां तो क्या नाम बतलाया तुमने अपने शहर का?'

मैंने एक बार फिर अपने शहर का नाम लिया तो उनके चेहरे पर एक चमक सी कांधी। संभव है, उनकी स्मृति में कुछ बिंब भी उभरे हो। कुछ क्षण वे मौने ही रहे फिर किसी बच्चे के मासूम से स्वर में बोले, तुम्हारे शहर में मेरे बचपन का एक मित्र भी रहता था। हालांकि पिछले सात दशकों से मुझे उसकी कोई जानकारी नहीं हैं हां, उसका नाम आज भी याद है। हम दोनों बचपन से इस शहर में साथ ही पढ़ते थे। आठवीं तक साथ ही पढ़े। फिर उसके पिता ने यह शहर छोड़ दिया और वह चला गया। हमारी दोस्ती पर विराम लग गया। मेरे माथे पर दाहिनी ओर चोट का जो निशान तुम देख रहे हो, वह उसी का दिया हुआ है। हम कुछ लड़के स्कूल के मैदान में हाकी खेल रहे थे। उसने गेंद में किक मारने के लिए स्टिक ऊपर उठाई ओर मेरे माथे पर लगी। सिर फूट गया मेरा। खून की धार बह निकली। पर दोष उसका नहीं मेरा था। मैं गलत तरीके से पीछे की ओर से गेंद छीनने की कोशिश कर रहा था... 'वे हँसने लगे बचपन उनकी स्मृति में पेंगे भर रहा था। कुछ ठहरकर बोले, बचपन की कुछ घटनाएं आज इस उम्र में भी शहद सी मीठी और अमियां सी खटमिट्टी लगती हैं। यदि उसने माथे पर यह प्यारा निशान नहीं दिया होता तो आज मुझे उसका नाम भी याद नहीं होता। कैसे भूल सकता हूँ मैं राममनोहर खरे को! यहां से तो वह तुम्हारे ही शहर गया था।'

उन्होंने अपने माथे के चोट के निशान पर हौले-से हाथ फेरा।

मैं उठकर खड़ा हो गया। उनकी ओर एक कदम आगे बढ़ाया और उत्साह से भरकर कहा, 'राममनोहर खरे मेरे पिताजी का नाम है। मैं उनका छोटा बेटा हूँ। वे हॉकी के अच्छे खिलाड़ी थे। मेरे दादाजी भी पहले आपके इसी शहर में थे। आप मेरे पिता के बचपन के मित्र हैं तो मेरे लिए पितातुल्य ही हैं।' मैंने आगे बढ़कर उनके चरण छूना चाहा लेकिन उन्होंने मुझे अपनी कुर्सी पर बैठ जाने का इशारा किया। मैं बैठ गया। मन में यह उम्मीद जाग उठी कि अब तो मकान किराए पर मिल ही जाएगा।

'तुम मेरे बालसखा राममनोहर के पुत्र हो सो मुझे तुम्हें मकान किराए पर देने की बाबत सोचना ही पड़ेगा पर अंतिम फैसला तो मेरा वकील बेटा ही करेगा। मैं तो रिटायर्ड हेडमास्टर हूँ। 55 की उम्र में सेवानिवृत्त हुआ था। आज 30 वर्ष होने को आए। सारे निर्णय बेटा ही लेता है लेकिन मैं तुम्हारी सिफारिश तो करूंगा ही। चलो, तुम्हें मकान दिखला देता हूँ। मैं भी चाहता हूँ कि इस मकान में कोई परिचित शरीफ व्यक्ति ही रहे।'

जिस बड़े कमरे में हम बैठे थे, उससे लगे बाहरी अहाते से ऊपर सीढ़ियां जाती थीं। वे आगे-आगे और मैं पीछे-पीछे। सीढ़ियां चढ़कर वे ऊपर पहुंचे। उम्र के अंतिम पड़ाव पर भी उन्हें सीढ़ियां चढ़ने में कोई परेशानी नहीं हुई। उन्होंने कुरते की जेब से चाबी निकालकर दरवाजे पर लगा ताला खोला और मकान में दाखिल हुए। पीछे-पीछे मैं भी। दो छोटे कमरों का व्यवस्थित मकान था वह। साफ सुथरा। पहले कमरे में एक छोटी टेबिल व लकड़ी की एक कुर्सी भी एक ओर रखी हुई थी। टेबिल पर टेबिलफैन भी रखा था। दूसरे कमरे में एक तखत बिछा हुआ था।

‘मकान पसंद है तुम्हें? यदि मेरा बेटा तुम्हें मकान दे देता है तो तुम टेबल-कुर्सी, तखत और पंखे का प्रयोग भी कर सकते हो। कभी-कभी मैं यहां आकर बैठता हूं अन्यथा यह मकान तो खाली ही पड़ा रहता है।’ वे कुर्सी पर बैठ गए।

‘मकान तो बहुत अच्छा है। हर तरह से मेरे लिए उपयुक्त है। पर इसका किराया कितना होगा? मेरी अपनी सीमाएं हैं।’ मैंने संकोच के साथ कहा। दरअसल, मैंने अनुमान लगया कि इस मकान का किराया अढ़ाई सौ रुपये से कम न होगा और यह भार मैं वहन नहीं कर सकूंगा।

वे बोले- ‘इसका निर्णय भी बेटा ही करेगा। वह दो दिन के लिए बाहर गया हुआ है। कल शाम तक वापस आ जाएगा। तुम इतवार को आकर बेटे से मिल लेना। वैसे मैं तो तुम्हारी सिफारिश करूंगा ही। हां, एक बात का ध्यान जरूर रखना कि यह बात किसी को मालूम न हो कि मैंने तुम्हें मकान दिखलाया है। किराए पर मकान लेने वालों की कमी तो है नहीं। मेरे बेटे को तंग करने लोग आने लगेंगे।’ वे कमरे से बाहर निकले और दरवाजे पर ताला लगाकर सीढ़ियां उतरने लगे।

दुविधा की स्थिति में मैं उनके मकान से बाहर निकला। मकान मिलेगा भी या नहीं! यदि वकील साहब ने अधिक किराया मांगा तो.... स्वर्गीय पिता की और वकील साहब के वृद्ध पिता की बचपन की दोस्ती का ही भरोसा रहा।

रविवार की सुबह ठीक दस बजे मैं भार्गव वकील के घर पहुंच गया। वकील साहब लगभग पचास वर्ष के अर्धवृद्ध व्यक्ति थे। वे उसी कमरे में कुर्सी पर बैठे थे, जिसमें तीन दिन पहले मैं उनके पिताजी के साथ बैठा था। कमरे के शायद उनके तीन मुवक्किल भी एक बेंच पर बैठे हुए थे। कानूनी सलाह-मशविरा चल रहा था। मैं चुपचाप एक कुर्सी पर बैठ गया। मुवक्किलों के जाने पर उन्होंने मेरी ओर देखा और पूछा, ‘कहिए, क्या काम है आपको?’

मैंने उन्हें अपना परिचय दिया और कहा, ‘आपका मकान खाली है। यदि आप मुझे किराए पर दे देंगे तो बड़ी मेहरबानी होगी। मैं तो मकान किराए पर उठाता नहीं हूं। कौन झंझट में पड़े। चार मकान मालिकों के मुकदमें लड़ रहा हूं। किराएदार सीधे से मकान कहां खाली करते हैं। आप गलत जगह आ गए। मुझे क्षमा कीजिए।’ वकील साहब ने साफ इनकार कर दिया।

मैंने हिम्मत नहीं हारी, ‘मैं आपको शिकायत का कोई मौका नहीं दूंगा। शासकीय सेवक हूं। कभी भी तबादला हो सकता है। अकेला ही रहूंगा। आपको यह विश्वास भी दिलाता हूं कि आपके कहने पर हफ्ते भर के अंदर मकान खाली कर दूंगा। मेरे शब्दों में एक किराएदार की मायूसी थी।

वे नहीं पसीजे। मेरी ओर देखते हुए बोले- ‘फिलहाल तो मेरा इरादा मकान किराए पर उठाने का नहीं है।’

मैंने आखिरी कोशिश की, ‘तीन दिन पहले भी मैं आया था। आप बाहर थे। आपके पिताजी से बात हुई थी। उन्होंने मुझसे कहा था कि वे आपसे मेरी सिफारिश करेंगे। उन्होंने मुझे ऊपर का मकान भी दिखलाया था व इतवार यानी आज आपसे मिलने के लिए कहा था। तभी तो मैं आया हूं। आप उनसे पूछ लीजिए।’

वकील साहब चौंके और मुझे घूरकर देखने लगे, ‘तो आप मेरे पिताजी से भी मिल चुके हैं?’

‘जी हां। इसी कमरे में। वे इस आराम कुर्सी पर बैठे थे।’ मैंने कहा।

वकील साहब ने मुझे हिकारत से देखा और तेज स्वर में कहा- ‘आप पागल हैं! सिरफिरे! जाइए यहां से! मेरे पिताजी की मृत्यु तो पच्चीस वर्ष पहले हो चुकी है। मां की मृत्यु का सदमा वे बर्दाश्त

नहीं कर सके और एक माह के अंदर ही चल बसे। हार्टफेल हुआ था उनका। और आप कह रहे हैं कि आप उनसे तीन दिन पहले मिले हैं। किसी पागलखाने में अपना इलाज कराइए। आप मेरे पिता से मिल ही कैसे सकते हैं?’

अब चौंकने की मेरी बारी थी। मैं उठकर खड़ा हो गया और बोला- ‘आप कह रहे हैं तो जा रहा हूँ पर मैं झूठ नहीं बोल रहा हूँ आपके पिताजी की छवि अभी भी मेरी आंखों में जीवित हैं। आपकी तरह ही लंबे और गौरवपूर्ण थे। खादी का कुरता-पाजामा, जवाहर जैकेट पर गांधी टोपी भी थी। आजकल इस तरह के सौम्य और गौरवपूर्ण व्यक्तित्व दिखते ही कहां हैं सो आपके पिता का ममत्वभरा चेहरा याद है और कभी भूलूंगा भी नहीं। हां, यह भी याद आ रहा है कि उनके माथे पर दाईं ओर चोट का निशान था।’ अपनी बात को सच प्रमाणित करने के लिए ही मैंने इतना कुछ कह डाला।

वकील साहब के चेहरे के भाव बदल गए। कठोरता कहीं गायब हो गई। मुझे कुर्सी पर बैठने का इशारा करते हुए बोले, आप मेरे पिताजी की हुलिया, उनके रहन-सहन की जो व्याख्या कर रहे हैं, वह शत-प्रतिशत सही है। पर मैं कैसे विश्वास करूं! मैंने स्वयं अपने इन हाथों से उन्हें चिता पर लिटाया है, मुखान्नि दी है, उनके फूल सहेजे हैं और उन्हें गंगा-यमुना के संगम पर प्रवाहित किया है। कुछ क्षण वे मौन ही रहे फिर उठ खड़े हुए। मुझसे कहा उन्होंने, ‘आप बैठिए, मैं दो-चार मिनट में आता हूँ।’ और वे अंदर के कमरे में चले गए।

कमरे में मौन पसर गया। मेरी नजर आरामकुर्सी पर पड़ी लेकिन वह तो खाली थी। मैं सोचने लगा कि क्या तीन दिन पहले मैंने कोई स्वप्न दिखा था। पर स्वप्न तो रात में और सोते समय दिखलाई देते हैं। मैंने जो कुछ भी देखा था, मेरे साथ जो घटित हुआ था, वह दिन के उजाले में ही हुआ था और मैं जाग रहा था। पूरी तरह चैतन्य था। फिर क्या था वह!

पांच मिनट बाद वकील साहब कमरे में आए। उनके हाथ में एक पुराना कांच के फ्रेम में मढ़ा श्वेत-श्याम फोटोग्रुप था। उसे मेरी ओर बढ़ाते हुए उन्होंने कहा, यदि आपने मेरे पिताजी को देखा है तो बतलाइए कि इस चित्र में वे कहां हैं?

मैंने फोटो अपने हाथ में ले लिया। संभवतः वह स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों का कोई फोटोग्रुप था। सभी की पोशाक एक जैसी। सभी के सिर पर गांधी टोपी। अलबत्ता, कुछेक पाजामा की जगह धोती धारण किए हुए थे। वकील साहब के पिताजी को पहचानने में मुझसे भूल नहीं हुई और होती भी कैसी! तीन दिन पहले ही तो उनसे मुलाकात हुई थी, बातचीत हुई थी। मैंने उनके चित्र पर अपनी उंगली रख दी।

वकील साहब मेरी कुर्सी के पास आकर खड़े हो गए और मुझसे पूछा ‘और क्या बात हुई थी आपकी पिताजी से। मुझे विस्तार से बतलाइए। एक कुर्सी खींचकर वे मेरे सामने बैठ गए। उनका संशय विश्वास में बदल रहा था।

मैंने उन्हें बतला दिया कि मेरे पिताजी और उनके पिताजी बचपन में दोस्त थे। साथ हॉकी खेलते थे। उनके पिता के माथे पर जो चोट का निशान था, वह मेरे पिता की हॉकी से ही लगा था और उस निशान के कारण ही वे सत्तर वर्ष बाद भी मेरे पिता का नाम नहीं भूले।

वकील साहब एक अच्छे श्रोता की तरह सब सुनते रहे फिर बोले, ‘पिताजी ने यह किस्सा, कि उनका माथा उनके बचपन के दोस्त राममनोहर खरे की हॉकी स्टिक ने फोड़ा था और जिंदगी भर के लिए यह निशान दे दिया, कई बार सुनाया था। उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि माथा

राममनोहर ने फोड़ा था। वे गंभीर हो गए और कुछ सोचने लगे।

मैंने कहा, 'आपके पास तो अपने पिताजी के सुनाए किस्से हैं लेकिन मेरे पास तो कुछ भी नहीं हैं। बचपन में ही पिताजी का देहांत हो गया था।'

कुछ देर के मौन के बाद वकील साहब ने कहा, 'मकान के बारे में तुमने क्या सोचा है? जिस व्यक्ति ने तुम्हें मकान दिखलाया था, तीन दिन पहले, वह तो पच्चीस वर्ष पहल परलोक सिंधार चुका है। मेरा ख्याल है कि अब तक तुमने मेरा मकान किराए पर लेने का विचार त्याग दिया होगा।' उन्होंने भेदभरी दृष्टि से मेरी ओर देखा। मैंने ध्यान दिया कि पहली बार उन्होंने मुझे 'तुम' कहा। 'आप' कहीं गुम हो चुका था।

'आपका ख्याल गलत है। जिन्होंने मुझे मकान दिखलाया था, वे तो बहुत अच्छे इनसान थे। उन्हीं के कारण आप मुझे मकान किराए पर देने के लिए तैयार हुए हैं। और फिर मुझे इतना अच्छा मकान इस शहर में मिलेगा भी कहां। आप किराया बतला दीजिए। यदि मेरी सामर्थ्य होगी तो मैं इस मकान में ही रहना चाहूंगा।' मैंने कहा और उनकी ओर देखा कि वे कितना किराया बताते हैं।

उन्होंने मुझसे ही पूछ लिया, 'तुम कितना किराया दे सकते हो?'

बड़े संकोच के साथ कहा मैंने, 'मैं महीने में एक सौ रुपए से अधिक नहीं दे सकूंगा हालांकि यदि आप किसी और को मकान देंगे तो आपको इससे दुगुना किराया भी मिल सकता है।'

'लेकिन मैं किसी और को मकान दूंगा ही क्यों! देना होता तो कब का दे दिया होता। पहले पिताजी ने किसी और यह मकान खोलकर भी नहीं दिखलाया। यह मकान तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहा था।' वकील साहब भावुक हो उठे, 'सौ रुपए तो बहुत अधिक है, तुम महीने में पचास रुपए ही देना। यह भी मैं इसलिए लूंगा क्योंकि तुम बिना किराया दिए इस मकान में रहने नहीं आओगे। और मैं तुम पर कोई अहसान नहीं कर रहा हूँ। यदि तुम्हें सरकारी क्वार्टर मिल जाता तो तुम्हारे वेतन से लगभग इतनी ही राशि कटती। मुझे अपने पिता की चाहत को सम्मान देना है।'

दूसरे ही दिन में वकील साहब के मकान में रहने आ गया। सामान के नाम पर कुछ विशेष था भी नहीं। एक टीन की पेटी, एक होल्डाल, छिटपुट बर्तन और कुछ किताबें। उसके मकान में मैं अढ़ाई वर्ष यानी तीस महीने तक रहा। छुट्टियों में घर आता-जाता रहता। कभी कोई परेशानी नहीं हुई। अकेलेपन का अहसास भी नहीं हुआ। लगता कि कोई अदृश्य छाया हरदम मेरे साथ है और मेरी तमाम गतिविधियों पर नजर रखती है। पर वकील साहब के पिताजी से भेंट नहीं हुई।

अढ़ाई वर्ष बाद देश में एक बड़ा परिवर्तन हुआ। केंद्र में ही नहीं, हमारे प्रांत में भी सरकार बदल गई। भूत-प्रेतों की शंकरजी की बारात बुरी तरह बिखर गई। मेरा तबादला मेरे अपने शहर हो गया। व्यक्तिगत स्तर पर दो और भी शुभ समाचार मेरे साथ जुड़े। मेरा वेतन बढ़कर चार अंकों को छूने लगा और छोटी बहन की शादी भी तय हो गई।

जिस दिन मुझे वकील साहब का मकान खाली कर अपने घर के लिए रवाना होना था उसके एक दिन पहले ही मैंने सारी पैकिंग कर ली थी। सुबह सात बजे की ट्रेन पकड़नी थी सो पांच बजे ही उठ गया। बाथरूम से बाहर निकला तो देखकर वे मुस्कराए फिर बोले- 'बेटे, अपने घर जा रहे हो। अच्छा है। नौकरी तो करनी ही है। तीस माह तक तुम्हारे साथ रहा। मुझे भी बहुत अच्छा लगा। तुम छुट्टियों में घर चले जाते थे तो यहां मेरा मन नहीं, लगता था। अब मैं यहां कैसे रहूंगा? मैं भी यह मकान छोड़ दूंगा।'

मैं उनके पैर छूने आगे बढ़ा लेकिन कुर्सी पर वे नहीं, वकील साहब बैठे थे। मुझे आज जाना है, जानकारी उन्हें थी।

‘तुम आज जा रहे हो, इसलिए मैं भी जल्दी उठ गया। कपड़े बदलकर तैयार हो जाओ। चाय आ रही है। तुम्हें एक जरूरी बात बतलानी है।’ वे कुर्सी से टिककर बैठे रहे। आखें मूंद लीं।

कपड़े बदलकर मैं उनके पास तखत पर बैठ गया। नौकर ने हमें चाय के कप पकड़ा दिए और मेरा सामान नीचे उतारने लगा।

‘आप कुछ बतलाना चाह रहे थे मुझे? मैंने उनका ध्यान भंग किया।

चाय के दो घूंट भरने के बाद उन्होंने कप टेबिल पर रख दिया और कुर्सी तखत के बहुत पास खिसका-ली यानी मेरे काफी करीब आ गए। फिर धीरे से कहा, ‘तुमने तो अढ़ाई वर्ष पहले मेरे पिताजी को साक्षात् देखा था लेकिन उनकी मृत्यु के बाद कल रात मैंने उन्हें सपने में देखा। पहली बार। यूँ तो मुझे सपने दिखते ही नहीं हैं पर कल पिताजी मेरे सपने में आए थे और.....

मैं बीच में ही बोल पड़ा, ‘क्या कह रहे थे वे?’

‘मुझसे तो कोई विशेष बात नहीं की पर तुम्हारे लिए एक संदेश हैं मेरे लिए तो यह बड़ी बात है कि उन्होंने मुझे दर्शन दिए।

‘क्या संदेश है मेरे लिए? मेरी उत्सुकता बढ़ गई।

‘तुम्हें छोड़ने स्टेशन चलूंगा, वहीं बतलाऊंगा।’ वकील साहब उठे और सीढ़ियों की ओर बढ़ गए।

तांगे पर मैं वकील साहब के साथ ही स्टेशन पहुंचा। कुछ देर बात जैन सर, मीनू मैडम व कुछ और भी प्राध्यापक मुझे विदाई देने आ गए। ट्रेन आने को थी लेकिन वकील साहब मौन थे। मैं अंध गिर हो रहा था कि उनके पिता ने उनसे मेरे लिए क्या कहा है!

ट्रेन आ गई। कुली ने सामान चढ़ा दिया। मैंने खिड़की के पास की अपनी जगह ले ली। गाड़ी छूटने को थी कि तभी वकील साहब ने खिड़की की राह एक लिफाफा मेरी ओर बढ़ाया और कहा, ‘इसमें एक पत्र है। मैं तो पिताजी की इच्छा पूरी कर रहा हूँ।’ गाड़ी आगे की ओर सरकने लगी और फिर उसने गति पकड़ ली।

ट्रेन ने प्लेटफॉर्म छोड़ा और मैंने लिफाफा खोला। कुल तीन वाक्यों का पत्र था- ‘पिताजी की यही इच्छा है। अगले माह तुम्हारी बहन की शादी है। इसे पिताजी की ओर से और मेरी ओर से भी बहन के लिए हमारा आशीर्वाद समझना।’ पत्र के साथ सौ-सौ के पंद्रह नोट नत्थी थे। पंद्रह सौ रुपए यानी मेरा तीस महीने का मकान का किराया। भूतप्रेतों द्वारा दी गई तीस महीने की सजा काटकर मैं अपने घर अपने शहर जा रहा था। यह सजा मुझे ही नहीं, मेरी बूढ़ी-बीमार मां और मासूम छोटी बहन को भी दी गई थी। क्या ‘जय श्रीराम’ की जगह ‘जयहिंद’ बोलना इतना बड़ा अपराध है?

प्रिय पाठकों, अब मैं किसी को भी भूत-प्रेतों की कहानी नहीं सुनाता। अच्छे इनसानों पर यूँ भी मन में कहानी गढ़ना बहुत कठिन है।



## कहानी

# भीतरी सांकल

बलराम अग्रवाल

असगर मियां जिस समय बस से उतरे, नौ बज चुके थे। सड़क पर सन्नाटा था...गजब का सन्नाटा। उनके हाथ-पैर सुन्न-से पड़ने लगे। गला खुश्क हो आया। दिल की धड़कनें धीमी पड़ गई-सी लगीं। एक भी रिक्शेवाला नहीं! उनकी तो बात छोड़िए, गरीब इनसान हैं बेचारे। दंगा-फसाद में गरीब आदमी ही ज्यादा डरता है; मरने से नहीं, पकड़े और घसीटे जाने से। लेकिन कुत्तों और गायों को क्या हुआ जो इस कदर सड़क को घेरे हुए लेटे और खड़े रहते हैं कि लोगों का आराम से गुजरना मुहाल कर देते हैं! वे सब किधर गए? और... तीन-चार जो दूसरे लोग उतरे थे बस से वे? हालांकि उनमें से कोई भी उनकी जान-पहचान का न था; लेकिन उतरते ही वे सब के सब कब अंधेरे में बिला गए, पता ही न चला।

आम दिनों में, रात के नौ बजे का समय इस शहर में ऐसा नहीं होता कि इतनी मुर्दनी छा जाती हो। नौ से बारह बजे वाला सिनेमा का शो खत्म होने के बाद साढ़े बारह-एक बजे तक भी कम से कम हलवाइयों की दुकानें तो खुली ही रहती हैं। एक-दो पल तो असगर मियां की समझ में ही नहीं आया कि वे करें क्या? किधर जाएं? तभी उनकी निगाह सामने वाले चौराहे पर खड़े पी. ए.सी. दल पर पड़ी। वे अंदर तक हिल गए। वास्ता तो उनका कभी पड़ा नहीं था; लेकिन सुन उन्होंने काफी रखा था कि कफरू के दिनों में सड़क पर टहलते आदमी को पी.ए.सी. वाले कपास की तरह धुनते हैं। 'घर यहां से दो किलोमीटर की दूरी पर है असगर मियां, और पूरे चार चौराहे पार करने पड़ेंगे वहां पहुंचने तक!' कृवे खुद से बोले- 'हादसा अगर दंगाइयों ने नहीं किया; पहले, दूसरे, तीसरे चौराहे पर तैनात पी.ए.सी. वालों ने नहीं किया; तो क्या गारंटी है कि चौथे चौराहे पर तैनात पी. ए.सी. वाले नहीं कर डालेंगे?' एकाएक उन्हें ख्याल आया कि अपने अहमद भाई का मकान पास में ही है। इस डरावनी और खतरनाक रात में किसी भी तरह का कोई खतरा मोल लेना उन्हें अक्लमंदी नजर नहीं आया। घर में अकेली बैठी नाजमा की निगाह में तो वे अभी भी दिल्ली में ही थे।

अब पहुंचूं या सवेरे, क्या फर्क पड़ता है- यह सोचते ही उनके कदम खुद ब खुद अहमद भाई के मकान की ओर मुड़ गए। कभी भी न पहुंचने या टूटा-फूटा पहुंचने से कहीं बेहतर है कि देर से ही सही, सही-सलामत घर पहुंचूं- उन्होंने सोचा।

हुआ यों था कि बकरीद के तुरंत बाद असगर मियां को दुकान में सौदा कुछ कम महसूस होने लगा। सौचा, दिल्ली जाकर किनारी बाज़ार और सदर बाज़ार वगैरह से कुछ जरूरी आइटम खरीद लाए जाएं। खाली-सी दिखने वाली दुकान में, खरीदारी की तो बात ही अलग है, ग्राहक घुसने से भी



कतराता है। घर पर जिक्र किया तो नाजमा बेगम ने साफ मना कर दिया; कहा- 'मियां, दिल्ली जाने से अच्छा है कि यहीं के थोक दुकानदारों से माल उठा लो। उमर और शरीर दोनों का ख्याल करो।' 'यहां पर बीस परसेंट से कम मुनाफे पर माल नहीं देते हैं हरामखोर।' उनकी बात पर वह बोले। 'अपना और माल का किराया-भाड़ा लगाकर दस परसेंट तो अपना भी खर्च हो ही जाता होगा?' नाजमा बी ने पूछा।

'हां, इतना तो हो जाता है।' उन्होंने कहा, 'कोई पुलिस वाला या सेल्स टैक्स वाला पीछे पड़ जाय तो पंद्रह परसेंट भी समझ लो।'।

'तब?' नाजमा बी भड़कीं, 'सौ में पांच रुपल्ली के पीछे जान जोखिम में डालना कहां की अक्लमंदी है इस उमर में?'

'सवाल पांच रुपल्ली का नहीं है बेगम।' उन्होंने दलील दी, 'यहां के थोक दुकानदारों पर माल की ज्यादा वैराइटी नहीं मिल पाती है। ...वही सामान उठाना पड़ता है, जो इनके पास मौजूद हो।' 'तो?'

'तो यह कि ग्राहक ऐसी चीज पर अटकता है जो बाजार में दूसरे दुकानदारों के पास न हो या उनसे कुछ हटकर, अलग-सी हो। अलग-सी दिखने वाली चीज पर मुनाफा भी चार पैसे ज्यादा मिल जाता है।' असगर मियां ने समझाने के अंदाज में कहा।

नाजमा बी उनकी बात से सहमत हो गई हों, ऐसा नहीं था; लेकिन निरुत्तर जरूर रह गईं। उन्हें चुप देखकर असगर मियां मन ही मन डर रहे थे कि बेगम साहिबा के दिमाग में उनकी दलील के खिलाफ कोई नया पैतरा न पैदा हो जाय। वे चुपचाप उनका चेहरा निहारते बैठे रहे और चारपाई की उधड़ी हुई बान को अपनी तर्जनी उंगली पर लपेटते-उधेड़ते रहे।

'कब जाओगे?' कुछ देर की चुप्पी के बाद नाजमा ने पूछा।

'जाना ही है तो देर क्या करना,' वे बोले, 'कल सबेरे-सबेरे निकल जाता हूं।'।

'सबेरे-सबेरे क्यों; गाड़ियां तो रातभर चलती हैं दिल्ली के लिए। पैसे लो और अभी निकल जाओ।' नाजमा ने ताना कसा।

'तुम तो बुरा मान जाती हो जरा-जरा सी बात का।' असगर मियां आहत स्वर में बोले, खाली दुकान खाने को दौड़ती है...'

'तो...? खाली घर हमें काटने को नहीं दौड़ता क्या?' बेगम ने नहले पे देहला जड़ा। एक बारगी तो असगर मियां उनका चेहरा ताकते रह गए। फिर दबी-सी आवाज में बोले, 'कमाल करती हो नाजमा! भई, सुबह को जाऊंगा और देर रात तक लौट आऊंगा ...और फिर, पहली बार तो जा नहीं रहा हूं दिल्ली; पहले भी जाता रहा हूं।'।

इतना कहकर वे चुप बैठ गए; लेकिन नाजमा बी ने जब कोई जवाब नहीं दिया तो बोले, 'दुकान जाता हूं, तब भी तो अकेली ही रहती हो सुबह से शाम तक!'

'हां,' इस बात से तिलमिलाकर नाजमा बोलीं, 'लेकिन तसल्ली तो रहती है कि आप आसपास ...इस शहर में ही हैं ...दिल उखड़ता है तो बुरका डालकर निकल जाती हूं दुकान की तरफ। देख आती हूं एक निगाह; और तसल्ली पाकर काम में लग जाती हूं घर आकर।' फिर मुंह बिचकाकर कहा, '...लेकिन आपको इस सब से क्या; रूखे हो जनम से।'।

बाप रे! एकदम यही बात तो, जब तक जीं, अम्मीजान कहती रहीं, 'मुआ असगर तो निरा रूखा है जनम से।' यही बात, जब से ब्याहकर आयी हैं उनके घर, नाजमा बी दोहराती रहती हैं, 'ठीक कहती हैं अम्मीजान, रूखे हो जनम से।' और कभी-कभी तो खुद उन्हें भी लगता है कि वे वाकई रूखे और नीरस हैं पूरी तरह। दोस्ती, लगाव, प्यार- उनका सिर्फ एक के साथ है- दुकान के साथ। दुकान उनकी जीनत है, जन्नत है और वहां बैठना ही उनकी इबादत है।

एकाएक सड़क किनारे की एक दुकान के चबूतरे के नीचे से सरसराहट की आवाज सुन एक पल को वे ठिठक-से गए। कलेजा धक्-से गले को आ गया। कान कड़े-से होकर आवाज का जायजा लेने को दाएं-बाएं घूमने-से लगे; घोड़े के कानों की तरह। आवाज की दिशा में गरदन घुमाकर देखने की उनकी हिम्मत नहीं हुई। चौकन्ना-सा होते हुए चाल कुछ तेज कर दी, बस। 'जाल तू जलाल तू, आई बला को टाल तू' का जाप भीतर ही भीतर इतनी तेजी से चल पड़ा कि पता ही नहीं चला, कितनी बार उसे पढ़ गए वे। बावजूद इस ताकतवर मंत्र के, उन्हें लगता रहा कि चबूतरे के नीचे सरसराने वाली बला टल नहीं रही बल्कि धीरे-धीरे करीब आती जा रही है। काला भुजंग, मांसल शरीर, कड़वे तेल में नहाया हुआ। पलक झपकते ही मुट्ठी से रपट जाने वाली चिकनाहट। जैसे-जैसे दुकानें पार करके आगे बढ़ते रहे, बला एक से दो, दो से तीन और तीन से चार होती रही। आठ-दस दुकानों के बाद तो जैसे पूरा हुजूम ही पीछे लग गया। उनके माथे पर पसीना चू आया; चाल खुद ब खुद कुछ-और तेज हो गई। उन्हें लगा कि एक-एक बला के हाथ में चौड़े फाल वाला चाकू है। घुप अंधेरा होने के बावजूद उन चाकूओं का फाल उन्हें चमचमाता-सा नजर आ रहा था।

'या अल्लाह! मैंने ये कैसी बेवकूफी कर दी!!'- वे मन ही मन बुदबुदाए- 'जेब में न मकान का पता लिखा कोई पुर्जा है न दुकान का। अपनी पहचान के लिए कोई निशानी भी जेब में नहीं छोड़ी। मुसलमान होने का डर मन में ऐसा समाया कि सामान खरीदने के सारे बिल फाड़कर चलती बस की खिड़की से बाहर फेंक दिए रास्ते में ही। बिल्टी की रसीद भी डाक से भेजवा देने के लिए कह आया दिल्ली वाले होल सेलर को। बचे हुए पचास रुपए के नोट को बत्ती बनाकर पाजामे के नेफे में उड़स लिया था; लेकिन उस पर उनका नाम-पता थोड़े ही लिखा है। उसका तो पता भी शायद किसी को न लगे। पोस्टमार्टम करने से पहले लाश का पाजामा तो इस बेरहमी से उतार फेंक दिया जाएगा जैसे हलाल किए बकरे के बदन से खाल उतारकर फेंक दी जाती है। गोल टोपी को आई. एस.बी.टी. से बस में बैठते ही सिर से उतारकर जेब के हवाले कर लिया था; बाद में, उसे भी कागज की चिंदियों के साथ बाहर का रास्ता दिखा दिया!'

अनगिनत बलाओं से घिरे, बेहद डरे हुए, कदम-ब-कदम वे आगे बढ़ते और सोचते रहे- 'दाढ़ी रखता नहीं हूं और सिजदे में भी बस इतना ही झुकता हूं कि माथे पर उसकी निशानी न चस्पों हो जाय। पीछे लग गए इन नामाकूलों ने चाकू घोंपकर हत्या तो कर ही डालनी है इस वक्त। आसपास क्या, दूर-दूर तक न कोई पुलिसवाला नजर आ रहा है न पी.ए.सी. वाला। अलबत्ता तो डर के कारण गले से आवाज ही नहीं निकलेगी; फर्ज करो, निकली भी, तो जान बचाने के लिए इस समय किसे पुकारूंगा! पुकारा भी तो घर-दुकान से निकलकर मुझ तक आएगा कौन? मर गया तो सुबह से पहले किसी की नजर लाश पर पड़ेगी, लगता नहीं है। जेब में नाम या नंबर का पुर्जा पाए बिना पुलिस वाले किसके घर पहुंचाएंगे लाश को? पाजामा नीचे करके मजहब तय करेंगे और दो-चार दिन रखकर

फोटो खींच लावारिस मान दफना देंगे। फोटो को थाने के बोर्ड पर चिपका देंगे ताकि बाद की तफ्तीश में घरवालों, दोस्तों, रिश्तेदारों द्वारा पहचान लिया जा सके।’

उन्हें दिल्ली से वापिस आने की अपनी उतावली पर अफसोस होने लगा। चार दिन पहले यही अफसोस उन्हें दिल्ली जाने की उतावली पर हुआ था। वे लोकल होल सेलर से ही सामान उठा लेने की नाजमा की बात मान जाते तो कोई मुसीबत न झेलनी पड़ती। दिल्ली सदर बाजार और किनारी बाजार में पूरा दिन खपाकर अपनी जरूरत का तकरीबन सारा सामान एक जगह बंधवाकर उन्होंने बिल्टी करा दिया था। घर वापसी के लिए शाम ढले वे आई.एस.बी.टी. भी पहुंच गए थे। वहां जाकर पता चला कि शहर और आसपास के इलाकों में जबर्दस्त दंगा फैलने की वजह से बेमियादी कर्फ्यू लगा दिया गया है इसलिए कोई बस उधर नहीं जा रही है। वे सिर थामकर जहां के तहां बैठ गए थे। उनके खुद के पास तो मोबाइल फोन जैसी कोई चीज थी नहीं। इधर-उधर एस.टी.डी. बूथ तलाश कर उन्होंने नाजमा बी का हाल जानने और अपना हाल बताने के लिए फोन मिलाने की भरसक कोशिश की लेकिन बेकार। इलाके के किसी भी आदमी का फोन नहीं लग पाया था। सरकारी आदेश से नेटवर्क ब्लॉक कर दिए गए थे शायद। वे वापस सदर बाजार गए और अच्छी जान-पहचान के एक दुकानदार को बिल्टी पकड़ाकर बोले, ‘अस्सलांवालेकुम हाशिम भाई।’

‘सलावालेकुम असगर मियां,’ हाशिम मुस्कराकर बोला, ‘कोई आइटम बाकी रह गया क्या?’

‘नहीं भाई,’ उन्होंने कहा, ‘आई.एस.बी.टी. पहुंचा तो पता चला कि शहर में दंगा फैल गया है। बसों का जाना-आना बंद रहेगा कर्फ्यू रहने तक।’

‘ओह!’ हाशिम ने आह भरकर कहा, ‘तो रुकने का इंतजाम करूं कहीं?’

‘शुक्रिया हाशिम भाई,’ उन्होंने कहा, ‘आप बस यह बिल्टी रख लीजिए। दो-चार दिन में कर्फ्यू हट जाने की जैसे ही आपको खबर मिले, डाक से भेज देना।’

‘हां-हां असगर मियां, क्यों नहीं।’ बिल्टी को उनसे लेकर गल्ले में रखते हुए हाशिम बोला, ‘मैं ध्यान रखूंगा। आप बेफिक्र रहिए।’

बिल्टी हाशिम को पकड़ाकर वे सदर से बाहर की एक मस्जिद के इमाम के पास चले गए थे जो पहले ही उन्हें अच्छी तरह जानता था। कर्फ्यू वाले चार दिन उन्होंने सड़कों और बाजारों में आवाराओं की तरह घूमते हुए बिताए। नाजमा बी के बारे में सोच-सोचकर उन्होंने हजार से ज्यादा बार अल्लाह से माफी मांग ली थी- ‘इस बार माफ कर दो परवरदिगार... नाजमा को महफूज रखो.. अब के बाद उनको इस तरह अकेला छोड़कर शहर से बाहर कहीं नहीं जाऊंगा...।’

चलते-चलते सड़क पर पड़े ईंट के अड्डे से उनका पैर टकराया। एक सख्त आवाज के साथ वह कुछेक इंच आगे जा लुढ़का। असगर मियां की तंद्रा टूटी। बलाओं ने फिर उन्हें आ घेरा। आज, शाम से कुछ पहले के समाचारों में उन्होंने सुना था कि शहर के हालात सामान्य हो चले हैं इसलिए प्रशासन ने कर्फ्यू उठा लिया है और राज्य परिवहन की बसों को सुबह नौ बजे से रात नौ बजे तक आवाजाही की इजाजत दे दी है। यह सुनते ही उनका मन खुले बछड़े की तरह उछल पड़ा और अगले दो ही पल में उसने उन्हें आई.एस.बी.टी. पहुंचा दिया। जिस समय बस में बैठे, पांच बज रहे थे शाम के; और ठीक साढ़े पांच बजे ड्राइवर ने बस को सड़क पर दौड़ाना शुरू कर दिया था। शहर तक पहुंचने में तीन-सवा तीन घंटे से ज्यादा समय नहीं लगेगा उन्होंने सोचा था; और हुआ भी यही।

झाड़वर ने इस कदर बस को दौड़ाया जैसे टोस्ट पर मक्खन फैला रहा हो एकदम बेरोक।

पिछले दो-चार दिनों की घटनाओं को बार-बार अपने भीतर उलटते-पलटते और अपने आप से अनगिनत बातें करते-से असगर मियां अहमद की गली के मुहाने तक आ पहुंचे। गली के भीतर बाहरी सड़क से भी ज्यादा घटाटोप था। एक पल को वे ठिठक-से गए; लेकिन पीछे लगी बलाओं ने उन्हें रुकने न दिया या कहे कि कल्ल करने के लिए जबरन गली के अंधकार में धकेल दिया।

पूरी तरह भुतहा माहौल था। यहां से वहां तक एक भी मकान ऐसा नहीं था जिसके किसी दरवाजे या खिड़की की दराज से छनकर रोशनी की कोई किरन बाहर आ रही हो। डर की वजह से यूं तो वैसे ही उनकी आंखें फैली-सी थीं, अंधेरे में देखने के लिए पुतलियां आप ही आप कुछ-और फैल गईं। रक्तचाप बढ़-सा गया। गली, गली न रहकर अंधेरे की सुरंग बन गई थी जिसमें वे चल नहीं रहे थे; बल्कि यंत्रचालित-से स्वमेव ही आगे को सरक रहे थे। बलाएं अब पीछे से निकलकर उनके अगल-बगल तक बढ़ आई थीं और साथ-साथ चलने लगी थीं। 'इन नामाकूलों से बच निकलने का अब कोई मौका नहीं बचा है असगर...' उनके भीतर से आवाज आई। बचाव की गरज से दाएं-बाएं पुतलियां घुमाते-से मन ही मन एक बार वे पुनः शुरू हो गए 'जाल तू जलाल तू, आई बला को टाल तू...जाल तू जलाल तू, आई बला को...' यह जाप करते-करते वे कब अहमद के मकान के सामने जा खड़े हुए, खुद उन्हें भी पता न चला। बहरहाल, उन्होंने राहत की सांस ली- 'शुक्र है अल्लाह का; मैं अब मारा भी गया तो चिंता की कोई बात नहीं, लाश को आसपास के लोगों द्वारा पहचान लिया जाएगा।' राहत की इस सांस के साथ ही काफी दूर से पीछा करती चली आ रही बलाएं अंधकार में घुल-मिलकर गायब हो गईं। वे अहमद के मकान के सामने खड़े रह गए, निपट अकेले।

असगर मियां ने अनुमान लगाया साढ़े नौ बज गए होंगे; ज्यादा से ज्यादा पौने दस। सो जाने का समय तो नहीं है; लेकिन गली के किसी भी मकान से जिंदगी की लहर नहीं फूट रही। न रोशनी की कोई किरन, न किसी तरह की कोई आवाज। वे सोच में पड़ गए- क्या करें? अगले ही पल उन्होंने तय किया कि यह समय संकोच या शर्म का नहीं, अपने आप को सुरक्षित करने का है। भले ही इस समय पूरी गली में सन्नाटा है; लेकिन यह सन्नाटा यहां पूरी रात रहेगा, इस बात की क्या गारंटी है? पता नहीं कौन, कब यहां आ धमके! दंगाई आए, पुलिस वाले आए या पी.ए.सी. वाले- खतरा उन्हें सबसे है। हिम्मत जुटाकर उन्होंने अहमद के दरवाजे की चौखट के दाएं किनारे पर लगे कॉलबेल के बटन को दबा दिया। घंटी नहीं बजी। उन्होंने उसे दोबारा दबाया, फिर तबारा; लेकिन घंटी नहीं बजी। बिजली ही गुल है शायद- उन्होंने सोचा वक्त बुरा हो तो हर शै गुल हो सकती है। हारकर दरवाजे पर लटकी बाहरी सांकल को पकड़कर जोरों से खड़खड़ा दिया उन्होंने- खड़-खड़-खड़-खड़...खड़-खड़-खड़-खड़।

दरवाजे पर सांकल के खड़खड़ाने की आवाज इतनी भयानक हो सकती है, अब से पहले उन्हें नहीं मालूम था। खड़-खड़ की उस आवाज ने जैसे पूरे मुहल्ले को ही जगा डाला। असगर मियां डर-से गए। उन्होंने महसूस किया कि आसपास के कुछ मकानों की खिड़कियां गली में झांकने के लिए हल्की-सी हिली या खुली थीं। उन्हें अफसोस भी हुआ और डर भी लगा कि घुप अंधेरे में खड़ा होने की वजह से आसपास का कोई भी जन उन्हें पहचान नहीं पाएगा; लेकिन अपने लिए रोशनी पैदा

करने का तो कोई तरीका इस समय उनके पास था ही नहीं। कल्ल के अपराधी सरीखे गरदन झुकाए वे बिना हिले जस के तस अपनी जगह पर खड़े रहे। अहमद के घर के भीतर कोई आहट महसूस न कर मजबूरन उन्हें दोबारा सांकल बजानी पड़ी। इस बार सफलता मिली। अहमद के घर की पहली मंजिल पर बाहर की ओर खुलने वाली खिड़की हल्की-सी खुली और उसमें से उसकी दस वर्षीया बेटी जास्मीन ने पुकारा- 'कौ...S...न?'

यह आवाज सुनते ही असगर मियां के शरीर में जैसे प्राण लौट आए। गरदन उठाकर उन्होंने कहा, 'मैं हूं बेटी, असगर।'

'इस वक्त?' उसने पूछा और गरदन घुमाकर एक बार पीछे को देखा।

'हां, दिल्ली से लौटा था तो...घर तक जाने की हिम्मत नहीं हुई; इसलिए...'

'लेकिन अब्बू तो घर पर नहीं हैं,' बच्ची ने कहा, 'बाहर गए हुए हैं।' यों कहकर उसने असगर मियां के जवाब का इंतजार किए बिना खिड़की बंद कर ली।

असगर मियां लुटे-पिटे-से वहां खड़े रह गए। वे जैसे-तैसे उस अंधेरी सुरंग को पार करके इस मकान तक पहुंचे थे। अब वापस यहां से कहीं-और जाना उनके बूते से बाहर था। दिल थामकर वे आगे बढ़े और अहमद के दरवाजे के सामने बनी चबूतरीनुमा सीढ़ी पर टिक गए। एकाएक उन्हें शेरू याद हो आया- अहमद की गली का खूँखार कुत्ता। किधर गया वह?

'छोटा पिल्ला था, तभी कोई गली में छोड़ गया था।' अहमद ने एक दिन बताया था, 'गली के बच्चों के साथ मिलकर जास्मीन ने इसे पाल लिया।'

'लेकिन पड़ा तो यह तुम्हारे मकान की इस चबूतरी पर ही रहता है?' असगर मियां ने पूछा था।

'हां, और-बच्चों के मुकाबले जास्मीन ही इसकी ज्यादा देखभाल करती थी न, इसीलिए। यह चबूतरी बचपन से ही इसका परमानेंट ठिकाना है।' अहमद बोला था, 'लेकिन नजर यह पूरी गली पर रखता है। किसी की क्या मजाल कि इसके होते कोई अनजान इनसान या जानवर गली में कदम भी रख जाए।' फिर कुछ देर बाद बोला, 'गली की छोड़ो, इस चबूतरी पर भी अपने और जास्मीन के अलावा किसी दूसरे को कभी टिकने नहीं देता है यह।'

'ऐसा?' असगर ने आश्चर्य से पूछा।

'जी, यकीन न हो तो आजमाकर देखना कभी।' अहमद बोला था, 'तुम्हें मेरे साथ आते-जाते देखकर मेरे दोस्त के तौर पर यह पहचानता है; लेकिन इतनी दोस्ती नहीं रखता कि तुम इसकी जगह पर कब्जा करने की सोचो।'

इसका सबूत असगर मियां को पिछले महीने मिला था।

हुआ यह कि अहमद के साथ वे दिल्ली से लौटे थे। दोनों के कंधों पर सदर से लाए सामान की भारी-भरकम पोटली थी।

'असगर भाई, एक काम कीजिए...।' अहमद ने कहा।

'क्या?'

'दिन अभी काफी बाकी है। पहले मेरे घर चलकर कुछ देर आराम कर लीजिए। चाय-पानी लेकर घंटे भर बाद चले जाना।'

‘जैसी तुम्हारी मर्जी।’ असगर मियां बोले और अहमद के साथ ही इधर चले आए। दरअसल, जास्मीन को वे अपनी बच्ची जैसा ही मानते थे और जब भी दिल्ली जाते, उसके लिए कोई खिलौना या खाने की चीज लाना नहीं भूलते थे। इस बार उसके लिए वे चॉकलेट कैंडी लाए थे। उन्होंने सोचा कि कल के बजाय वे कैंडी आज ही जास्मीन को क्यों न दे दी जाए; बच्ची खुश हो जाएगी। घर की ओर बढ़ते हुए अहमद धनीराम हलवाई की दुकान से समोसे खरीदने के लिए थोड़ा आगे बढ़ गया और खुद वे, अहमद के घर के बाहर आ खड़े हुए। उस भारी-भरकम पोटली को कंधे से उतारकर उन्होंने दरवाजे के साथ वाली इस चबूतरी पर टिकाया ही था कि सड़क पर खड़ा शेरू उन पर गुरा उठा। उनकी समझ में नहीं आया था कि इतनी जान-पहचान के बावजूद भी वह उन पर गुरा क्यों रहा है! इतने में जास्मीन ने दरवाजा खोला। असगर मियां पर शेरू की गुराते देखकर वह बोली, ‘अपनी पोटली आपने इसकी चबूतरी पर टिका दी है न, इसीलिए गुरा रहा है ताऊजी। इसे यहां से हटा लीजिए।’

यह सुनकर उन्होंने पोटली को चबूतरी पर से उठाकर पुनः कंधे पर रख लिया; और शेरू ने तुरंत गुराना बंद कर दिया था।

गली दोबारा अंधेरे की सुरंग बन चुकी थी। बलाएं फिर से उनके चारों ओर इकट्ठा होने लगी थीं। थकान, दहशत और अहमद के घर का दरवाजा न खुलने के अफसोस से हताश असगर मियां पहले तो उस चबूतरी पर बैठे, फिर धीरे-धीरे लेटते-से चले गए। पता ही नहीं चला कि कब उन्हें नींद आ गई; या यह कि वे बेहोश हो गए।

सुबह पांच बजे के आसपास अहमद के दरवाजे की भीतरी सांकल खड़कने की आवाज से उनकी नींद टूटी। वे उठकर बैठ गए। उन्होंने देखा कि चबूतरी के दूसरे कोने में शेरू सिकुड़ा-सिमटा-सा लेटा है! उन्हें दुगुनी हैरानी हुई जब दरवाजा खुला और दूध लाने वाला डोल हाथ में लटकाए अहमद उसके पीछे खड़ा नजर आया। अहमद भी उन्हें चबूतरी पर बैठा देखकर पूरी तरह सकपका गया।

‘वह...मैं...मैं...’ वह हकलाया।

‘कोई बात नहीं,’ असगर मियां खड़े होकर तपाक से बोले, ‘रात काटने को थोड़ा ठिकाना चाहिए था बस; सो इस बेजुबान ने मुझे दे दिया। चलता हूं, खुदा हाफिज।’



## कविताएं

अशोक वाजपेयी

नरेंद्र जैन

स्मिता वाजपेयी

नीलोत्पल

राजेश जैन

---



## अशोक वाजपेयी

### आओ

आओ,  
जैसे अंधेरा आता है अंधेरे के पास  
जैसे जल मिलता है जल से  
जैसे रोशनी घुलती है रोशनी में  
आओ,  
मुझे पहनो  
जैसे वृक्ष पहनता है  
छाल को  
जैसे पगडंडी पहनती है  
हरी घास को  
मुझे लो  
जैसे अंधेरा लेता है जड़ों को  
जैसे पानी लेता है चंद्रमा को  
जैसे अनंत लेता है समय को ।

### कुछ तो

सब कुछ नष्ट नहीं होगा  
कुछ तो बच ही जाएगा ।  
जले हुए टूठों में से एक की नंगी डाल पर  
एक नया किसलय,  
झर जाएंगे सारे पाप  
पर बचा रह जाएगा एकाध  
असावधानी से हो गया पुण्य  
उड़ जाएंगी सारी कविताएं  
अनंत में विलीन हो जाने वाले  
पक्षियों की तरह  
पर कुछ रूपक और शब्द बचे रह जाएंगे  
वनभूमि पर नीरव गिरने वाले पंखों की तरह  
लुप्त हो जाएंगे सारे हिंस्र पशु  
सिंह और चीते और भेड़िये  
पर एक अंधेरी खोह में दुबका रह जाएगा एक

भयभीत खरगोश  
 घंटी बजाते हुए अपनी साइकिल पर लादे  
 चिट्ठियों और पैकटों का ढेर लाएगा डाकिया,  
 आधी रात को ऊँघता हवलदार अपनी मेज पर  
 रखेगा सिर और ओहदा,  
 मोड़ का खोंचेवाला अलस्सुबह चढ़ाएगा  
 चाय की केतली,  
 मैकेनिक की दुकान पर गंदा लड़का देगा सरदी  
 को भद्दी गाली,  
 सब मिटा दिए जाएंगे  
 जैसे आसानी से खड़िया की लिखत  
 मिटा दी जाती है  
 पर बची रह जाएगी  
 जंगल में कडे और लकड़ियां बीनती  
 एक बुढ़िया  
 और बिना किसी रसोइए के  
 बटलोही में खुदबुदाती दाल-  
 अपनी गाड़ी में ले जाएगा  
 लादकर मृत्यु सार अंबार और अटाला  
 पर छूट ही जाएगी  
 एक टुटही मेज और बाल्टी-  
 सब चले जाएंगे  
 सुख-दुख, धैर्य और लालच  
 सुंदरता और पवित्रता  
 पर प्रार्थना के अंतिम अक्षय शब्द की तरह  
 बची रह जाएगी कामना-  
 सब कुछ नष्ट नहीं होगा,  
 कुछ तो बच ही जाएगा।

## होना पृथ्वी न होना आकाश

खंडहर की दीवार पर उग आई घास  
 धरती का हरा संकेत  
 कि समय हो चुका  
 मिट्टी में वापस आने का

होने की अवधि है  
रंग है  
मोड़ और उतार है  
न होना निरवधि, नीरंग  
समय  
किसी बगीचे में पेड़ की डाल पर बैठे  
तोते की तरह कुतरता रहता है  
होने को-  
न होने में समय की आहट तक नहीं  
समय दे रहा है दस्तक  
उस घर के दरवाजे पर  
जिसमें अब कोई नहीं रहता  
समय अपना भिक्षापात्र लिए खड़ा है  
उस द्वार के बाहर  
जिससे अब किसी को बाहर नहीं आना है  
अब समय नहीं है  
न कोई पाथेय  
न पैरों की थकान  
न माथे पर पसीना  
देवमंदिर तक चढ़ती सीढ़ियां  
बलिपशुओं का आर्तनाद  
मधसुरजा का  
रक्त-स्नात अंत  
रक्त के दुपहरिया अंधेरे में  
पत्थर की चीख  
घास की पुकार  
हरियाली का विलाप  
होना  
पृथ्वी  
न होना  
आकाश ।

## फिर घर

मां को कैसे पता चलेगा  
इतने बरसों बाद

हम फिर उसके घर आए हैं-  
कुछ पल उसको अचरज होगा,  
चेहरे पर की धूल-कलुष से विभ्रम भी-  
फिर पहचानेगी  
हर्ष-विषाद में डूबेगी-उतराएगी  
नहीं होगा उसका घर  
विष्णुपदी के पास  
याकि हरिचंदन और पारिजात की देवच्छाया में  
वहां भी ले रखी होगी  
उसने किराए से रहने की जगह  
वैसे ही भरे-पूरे मुहल्ले और  
उसके शोरगुल में  
फिर पिता आएंगे शाम को घूमकर  
और हमेशा की तरह बिना कुछ बोले  
हमें देखेंगे और  
मेज पर लगा रात का खाना खाएंगे  
और खखुरेंगे अलमारी में कोई मीठी चीज  
हम थककर सो जाएंगे  
अगले दिन जाएंगे तो ऐसे  
जैसे कि यहीं बरसों से रहते हों  
हम एक घर छोड़कर  
दूसरे घर जाएंगे  
ऐसे जैसे कि वही घर हो।

## संभावना

शहर अब भी एक संभावना है  
जाड़ों की एक दोपहर  
एक व्यस्त सड़क पर  
श्वेता के मित्र-हाथों को छूकर मैंने जाना-  
मेरे हाथ जरा-सी देर बाद भूल गए  
स्पर्श को  
और हमेशा की तरह अकेले मेरे पास रह गए  
ट्रैफिक सिगनल पर रुकी हुई भीड़ में कहीं नहीं था  
मेरे शरीर के लिए कोई अर्थ,  
कहीं नहीं थी वह शांत निजी गरमी

जिसे मैं अपना प्रेम कह सकता-  
एक हलकी-सी अप्रासंगिक हवा थी  
जिसे झकटा-सा देती हुई रुक गई एक बस  
हैंडल पकड़े अपने हाथों को  
मैंने दुःखी होकर देनी चाही अपनी करुणा  
तो याद आए वे हाथ,  
जो अभी थोड़ी देर पहले उनमें थे,  
उनसे जुड़ा वह शरीर जो प्रतिफलित हो चुका है  
एक और शरीर में,  
और फिर मुझे मिल गए कुछ शब्द  
जिन्हें मैं वहां रख सकता था  
जहां पहले वे हाथ थे-  
खिड़की के हवा के ठंडे झोंके से  
सिहरते हुए  
मेरे हृदय में हाथों के लिए  
कविता के लिए  
अब एक आशा थी  
शहर अब भी एक संभावना है।

(किताबघर प्रकाशन की स्वयं कवि द्वारा एक हजार कविताओं में से चुनी हुई 'कवि ने कहा' शीर्षक से प्रकाशित शृंखला से)



## नरेंद्र जैन

### अमरूद

इस पेड़ के सारे अमरूद गिलहरियों और तोतों के लिए हैं  
एकाध आधा कुतरा हुआ अमरूद  
कभी-कभार हाथ लग जाता है  
उसे खाता हूँ और इस जमीन की  
प्रशस्ति करता हूँ जिसमें पैबस्त है  
अमरूद का पेड़  
मेरे दुःखों की तरह यह पेड़ भी बारहमासी है  
जो हमेशा फल देता ही रहता है  
इसके हरे पत्तों से एकाकार होते हुए  
तोते इसमें छिपे ही रहते हैं  
गिलहरियां हालांकि दौड़ती ही रहती हैं  
मेरी मौजूदगी से उनकी दिनचर्या में  
नहीं पड़ता कोई खलल  
बस अमरूद को जरा सा कुतरती हैं  
और पत्तों में ओझल  
हो जाती हैं।

### अलाव

अलाव के लिए  
बटोरता ही रहता हूँ  
सूखी लकड़ियां, पत्ते, घास  
हल्की धूप में उड़ता हुआ धुंआ  
गढ़ता रहता है आकृतियां  
यह अलाव जैसे एक गर्म कोट है  
जिससे बचा रहता हूँ इस ठंड से  
कभी राह चलता कोई शख्स  
पास आ जाता है तब  
और अच्छा लगता है  
आग पर हथेलियां रखता वह  
अपने आप को आंच देता है  
ठंड और मौसम के बारे में एकाध

जुमला वह कहता है  
आग जब बुझने को होती है  
दौड़ता हूं सूखी डगालें बटोरने के लिए।

### कराह

कोई लयबद्ध ढंग से कराह रहा है  
थोड़ी-थोड़ी देर के अंतराल पर सहसा  
निकलती ही है कराह  
दुःख और विषाद का आना-जाना  
इस घर में लगा ही रहता है  
वे दबे पांव आते हैं  
और यहां ठहर जाते हैं  
वापस लौटने का जिक्र वे करते ही नहीं  
उनकी तीमारदारी और देखरेख में  
पूरी दिनचर्या ही बीत जाती है  
जब कोई कराहता है  
उसकी प्रतिध्वनि देर तक सुनाई देती है  
तब संगीत स्थगित हो जाता है  
और वाद्य अपनी धुनें भूलना शुरू कर देते हैं  
शाम गए कोई जलाता है एक दिया  
लेकिन अंधेरा है कि छंटता ही नहीं।

### घर

कच्चा घर पीली मिट्टी से पुता हुआ  
कमरे और दालान की छत बेहद नीची  
खजूर के पुराने दरख्त की मयालें दीवारों  
में पैबस्त  
छोटी-छोटी खिड़कियों से थोड़ा बहुत उजाला  
नीम अंधेरे में घुल रहा  
बाहर ओटले से चार-पांच सीढ़ियां छत की  
तरफ जाती  
सीढ़ियां गोबर से पुती हुई और  
उन पर चढ़ने से सांस लेने का शब्द  
सुनाई देता  
सर्दियों की सुबह परिवार छत पर ही  
गुजर बसर करता



वहां पुरानी साड़ी से बंधे पालने में बच्चा सो रहा  
चूल्हे पर चढ़ी हंडिया में भात पक रहा  
छत की मुंडेर पर चढ़ा बच्चा किसी को पुकार रहा  
लकड़ी के पुराने तखत पर बैठा शख्स  
हुक्का गुड़गुड़ा रहा  
सुनहरी धूप एक बड़ी नियामत उस घर में  
वे मुझे जानते नहीं और मेरा कोई परिचय भी नहीं उनसे  
सुबह से दोपहर तक मैं उनके बीच रहा  
जो सत्कार किया जा सकता था वह सब मुझे मिला  
जब मैं सीढ़ियां उतर रहा था किसी ने कहा  
कभी-कभी ऐसे ही आ जाया करो।

### एकाएक

कल तक सब कुछ यथावत था  
आज एकाएक मैंने गौर किया और  
स्तब्ध होकर दीवार पर टंगे चित्र को  
देखता ही रहा  
चित्र में वर्णित दृश्य का एक हिस्सा  
चित्र से बाहर निकल कर  
दीवार से लटक रहा था  
वहां दरख्त की सूखी जड़ें  
फ्रेम से बाहर निकल आई थीं  
जैसे भूकंप की हल्की सी तरंग  
उस चित्र के आर-पार हो गई थी  
अगली सुबह मैंने देखा  
दृश्य गायब था और  
मैं खाली कैनवास के सामने हताश खड़ा था।



## स्मिता वाजपेयी

### प्रतीक्षा

मेरी मृत्यु  
तुम किसी और दिन आना  
अभी फुर्सत नहीं मुझे तुमसे मिलने की  
निपटाने हैं कई काम  
पति की सुबह की चाय  
सफाई, चौका, बच्चों का स्कूल  
कपड़े की धुलाई, गैस का नंबर  
बिजली का बिल, मोहल्लेदारी भी  
अभी मनाना है नाराज पति रूठे बेटे को  
जाना है डॉक्टर के पास

तुम कभी और आना  
मेरी मृत्यु  
फुर्सत नहीं है अभी मुझे मरने की भी  
ये अलग बात है कि  
औरत का जीना भी मरने से ज्यादा भयावह होता है  
जिसे खुशनुमा बनाने में वह  
जीने के नाम पर पल-प्रतिपल मरती है

अब यही कर्तव्यशाला समर है मेरा  
मुझे जीतना ही है ये जीवन युद्ध  
प्रतिदिन का यह परिवार, समाज, कायदे कानून जीवन आधार

मृत्यु तुम्हें ही रोककर ठोकर मारकर  
मुझे बढ़ना है आगे  
अँधेरों से आगे रौशनी की मीनार तक  
इसीलिए कहती हूँ बेरहमी  
और अपनी पूरी शक्ति के साथ  
अभी करो मेरी प्रतीक्षा और  
मुझे जी लेने दो एक नया जीवन।

## जननी से हत्यारिन

मेरे पेट ने महसूस कराया तुम्हारा स्पंदन  
अचानक अनजाने खौफ से  
बदन में सिहरन फैल गई  
धक् से एकबारगी दिल धड़का- कौन है इस बार  
कहीं तुम हीं तो नहीं  
मेरी अजन्मी बेटी?

गुजरते हुए डाक्टरों की मशीनों से  
गुजर गई कई सदियां मेरे भीतर  
कई-कई भाव, कई सारे विचार  
खुश भी हुई मैं  
भर गई रोमांच से  
कि तुम ही हो मेरी अनुकृति, मेरी बेटी  
बड़े उमंग से देखती रही दो सुंदर आंखें  
और बड़े प्यार से तुम्हारा माथा चूम थपकी देती रही तुम्हें  
तुम्हारी नर्म छुअन से गुदगुदी होती रही कितनी देर  
लौटेगा तुमसे मेरा बचपन, मैं स्वयं जिऊंगी  
झुमूंगी नाचूंगी तुम्हारे साथ  
चूम लूंगी चांद को  
और लिख दूंगी इस आसमान पे तुम्हारा नाम मेरा नाम

सोचते हुए तुमको सोचती रही बहुत कुछ  
उत्साह तुम्हारे आने का सहसा बदल गया भय में  
जब याद आई दामिनी की  
बिजली गिर गई मेरे सपने पर  
वो भी तो मेरा हीं हिस्सा थी ना! अनदेखी सही  
कितना अपमानित हुआ है स्त्रीत्व  
नहीं बता पाऊंगी  
टीसती है वो पीड़ा कितनी मुझे

शोरगुल हो या एकांत उसकी अनसुनी चीखें  
कलेजा फाड़ती हैं मेरा  
नहीं बचा सकी उसे, ना मैं, ना कोई कानून  
नहीं बचा सकेंगे तुम्हें मेरे कमजोर हाथ  
कवच नहीं बन पाऊंगी हर कहीं

समझाते हुए खुद को नासमझ नहीं  
निरुपाय बेबस पाती हूँ  
और पढ़ी-लिखी स्मार्ट मॉम तुम्हारी निर्णय लेती है  
डॉक्टर भी मुझे इंजेक्शन लगा जाती है  
तकलीफ में सांत्वना मिलती है डाक्टर की  
नीम बेहोशी में कुछ अस्फुट से स्वर सुनती हूँ  
रक्तस्राव शुरू हो गया है  
क्षमा नहीं करना अपने इस कमजोर हृदय मां को  
तुम्हारी सलामती के लिए मैं हत्या कर रही हूँ तुम्हारी  
ये इस समय और सता व्यवस्था का ही नहीं  
हमारी आत्मा का भी क्षरण है  
जो एक मां को पहले बेबस करती है  
फिर उसे जननी से हत्यारिन बनने को मजबूर।

## परिवार

परिवार  
एक सुंदर परिकल्पना है संसार की  
परंपरा स्नेहिल संबंधों की  
प्रवंचना संस्कृति की  
मनुष्यता की, स्त्री सुरक्षा की  
कभी न खत्म होने वाला एक ऐसा अनुष्ठान  
जिसकी आहुति होती हैं स्त्रियां  
जीवन के हवनकुंड में समिधा उनका शरीर  
सुवासित होती है चारों ओर यश गाथा परिवार की  
  
परिवार-एक अधर्म एक विश्वासघात स्त्री के लिए  
परिवार यानी वर्जनाएं, अर्गलाएं, यातनाएं, घुटती इच्छाएं  
फिर भी...  
बचाने की खातिर इस परपीड़क संस्था को  
क्यों खटती घुटती है स्त्री?  
जवाब शून्य है तिक्त है, रिक्त है  
जाने क्यों ...  
इस युग में भी बचाए जा रहे हैं परिवार स्त्रियों द्वारा ही  
जो परिवार करता है उनका आहार  
उन्हें ही वे देती रही हैं आधार।

## मन हीरा है

मन पारा है  
टूटता है  
कई बार  
बार-बार  
इतनी बार  
कि दिखते भी नहीं हैं  
उसके टुकड़े  
बस महसूस होती है पीड़ा  
धमनियों को छेदती-बेधती  
विक्षिप्तपन खत्म! सबकुछ!  
कि देह की शिराओं से फूटकर  
निकला एक कण  
मिला किसी दूसरे कण से  
और शुरू हो गया जुड़ाव का सिलसिला

मन हीरा है  
रहता है कोठरी में  
कोयले सा  
सुलगता है शताब्दियों..  
सदियों लगते हैं उसे  
पत्थर फिर हीरे सा कठोर।

## हथेली पर जान

पुरुष सजाते हैं शब्द-पुष्प नाटकीय अंदाज से  
देते हैं भरम साथ रहने के प्रेम जैसा कुछ

फेंकते हैं वाग्जाल किसी मछुआरे की तरह  
फंसती है स्त्री उसमें किसी मछली की तरह  
धंसती है प्रेम के फरेबी भंवर में  
जानते हुए भी कि डूबेगी जिंदगी उसकी

फिर भी...  
हर पल जान हथेली पे  
और किसी भी पल जिंदगी को मिटा देने का जज्बा  
कमजोरी भी है और ताकत है स्त्री की।

## नीलोत्पल

### प्रक्रियाएं

एक शब्द जो कहीं खो जाता है,  
वह रात जो लंबी नहीं  
प्रतीक्षा की धुंधवाती रोशनी में  
छिप जाती है,  
उलझा समय चुपचाप निकलने का प्रयास करता है

रंग स्थिर है बारिश की बूंदें  
समुद्र का चित्त रंगती है  
गहरे नीले रंग की उदासी  
चिड़ियों के कुनबे पर छा जाती है

हर आंख एक गेंद है  
जो टप्पे खाती, हो जाती है दृश्य से बाहर  
बाहर सिर्फ मृत्युएं हैं  
यह जानने में वक्त लगता है कि  
आंखों का कोई किनारा नहीं होता.... ।

### अंतिम छाप

मैं एक सामान्य जिंदगी जीता हूं  
यह बात टेबल, कुर्सी, पलंग और दीवार  
जानते हैं

मैं चीजों में छिपता हूं  
मैं नकाब बदलता हूं  
दीवारों के रंग पुर्नवास की तस्वीर बनाते हैं

आईने युद्ध नहीं जानते  
मैं बहस करता हूं उनसे दिनों तलक

बदले गए परदे इस शताब्दी का  
अंतिम अध्याय है

सिर्फ वही जिन्हें मैंने प्रेम किया  
जो बदलना चाहते थे आसपास  
मेरी अंतिम छाप थी

कभी-कभी मृत्यु भी खरीदनी पड़ती है  
यह दुनिया से जाना  
चमड़ी नर्म हो या कठोर  
एक सुना संगीत हमेशा बहता है दर्द की तरह  
खोना-पाना जिंदगी का लगातार अभ्यास है

जो संबंध बनाता हूं भिन्न नहीं  
एक औसत-सा दार्शनिक  
जो सिर्फ किताब की तरह नष्ट होना चाहता है।

## निरंतरता

सारे ठोस पत्थर टूट गए....

जो मिट्टी मुझे अपने साथ सुलाना चाहती थी  
बह गई रक्त प्रवाह में  
खाली रंगों से बोझा ढोना  
थकान नहीं देता

मैं ही था वह जो आकर चला गया  
बैठे-बैठे मैंने अपनी ही प्रतीक्षा की  
सूर्य की गति महत्वहीन बनी रही  
आखिरकार मैंने कुछ नहीं सोचा  
रेलगाड़ी की तरह अनजान स्टेशनों पर  
रख आया टूटे नक्षत्रों की कौंध

संभलने, संभालने का माद्दा  
एक इंसान में नहीं आता ताउम्र  
एक बार मिट्टी, एक बार राख  
एक बार जय, एक बार पराजय  
आखिरकार कुछ भी तो नहीं होता  
निर्धारण करने से  
फल तब भी सड़ते हैं, इच्छाएं मरती हैं  
आलोचनाएं फक्क खड़ी रहती हैं

जीवन अभ्यास से नहीं  
उसके टूटने से चलता है।



## लौट आओ

लौट आओ अपने अपूर्ण जीवन से  
शब्द रंगीन फिल्मों के आईने से बाहर  
देखते हैं एक नीला स्वप्न  
जहां हम खो चुके हैं

मृत्यु अपनी असंभव तस्वीर देखती है  
पानी और पेड़ इस पृथ्वी पर  
अकेले गवाह है  
हमारी सारी विधियां रेत हैं  
ढह जाने तक उत्सव थमता नहीं  
सारी मापें श्रेष्ठता के बाहर है

शहद टपकता है छत्ते से  
धरती एक मधुमक्खी है  
सारा पराग प्रेम के कोटर में संचित रहता है  
पहाड़ी धूप गिरती है अदृश्य चीजों पर  
लौटती मौसम की याददाश्त

लौट आओ  
मौसम की स्मृति अक्षुण्ण रखती है।

## असंख्य प्रेमी

लैम्पपोस्ट की सफेद रोशनी में  
नन्हे कीड़े बाहर निकल आते हैं  
उन्हें नहीं मालूम रोशनी के इन अंतरंग प्रासाद में  
वे कितने अजनबी हैं एक-दूसरे के लिए  
उनकी गुंथी हुई समवेत आवाजें  
एक हो रही रात को  
भर देती हैं अपने प्रेमिल गीतों से

सुबह, उनकी मृत देहों के निशान  
नहीं मिलते पृथ्वी के रंगीन पृष्ठों पर  
लेकिन वे अ-रचे गीत  
गुनगुनाते हैं असंख्य प्रेमी  
एक अनंत शांति में।

राजेश जैन

## परमाणु अगर बीज होते?

होते क्या?  
परमाणु हैं ही बीज  
ब्रह्मांड के महावृक्ष पर उगे  
खिले... बिखरे  
और फिर से उगे  
बगैर किसी मिट्टी या गर्भ के  
पनपते खिलते और झड़ते  
और फिर-फिर उगते  
अपनों को ही उगाते  
समय को खुशबू सा फैलाते  
सूक्ष्मतम बिंदु से वृहत् ब्रह्मांड बनाते  
अनंतानंत यात्राओं पर जाते  
पुनः और पुनश्च  
वहीं लौट आते  
उर्वर बीजों का यह रैला-  
हर क्षण रंग बदलता  
गिरगिटिया संसार छैल छबीला  
अपने दूसरे की स्वायत्तता और अस्मिता को  
ठेस पहुंचाए बगैर  
वे परस्पर मैथुनरत  
असमाप्त सहवास करते जाते हैं  
फलस्वरूप विविध पदार्थ और जीव  
अवतरित होते जाते हैं  
इसलिए ही तो वे बीज कहलाते हैं।

## परमाणु अगर नर्तक होते?

होते क्या?  
वे हैं ही  
सृष्टि के परम आदिवासी नर्तक  
संख्या में असंख्य  
अनादि ब्रह्मण के मंच पर

अविकल अविरुद्ध अनंत  
सामूहिक नृत्य करते जाते हैं  
उनकी ताल और मुद्राओं से  
दिन और रात  
थिरककर  
परस्पर लय बदलते जाते हैं  
परिणमन वाद्य वृंद  
अपने स्वर गुंजाते हैं  
अप्रत्याशित मुद्राओं के दृश्य  
मंच पर  
देखकर  
हम दर्शक चौंक जाते हैं  
हमारे अंदर भी  
जैसे कोई परमैदिक  
ऊर्जा का राग समा जाता है  
उनका थिरकना  
संवेदनाओं का रक्त बन जाता है

## परमाणु अगर परिंदे होते?

होते क्या?  
वे हैं ही ऊर्जा के परिंदे  
तारों में 'करेंट' को अगर हम देख पाते  
झुंड के झुंड  
उन पक्षियों की  
रोशनी की दिशा में भागते हुए पाते  
  
अनंतानादि पुद्गल द्रव्यों को  
अगर हम चीर पाते  
उन असंख्य पक्षियों को  
अनगिनत घौसलों में  
अपने बच्चों सहित चहकता हुआ पाते  
  
अंतहीन अंतरिक्ष को  
अगर हम नाप पाते  
उसमें सट सटकर तैर रहे  
उन पक्षियों के 'ग्रिड जाल' में  
अनायास ही फंसते जाते

सृष्टि का 'माइको स्ट्रक्चर'  
अगर हम बना पाते  
अदृश्य बिंदुओं को  
उन पक्षियों सा  
अविरल कलरव करते हुए हम पाते

सुख-दुःख...अनुभव खट्टे-मीठे  
पेड़े पौधे...रंग...फूल...बच्चे और पत्ते  
सभी वस्तुओं का आकार भाता है  
उनका धर्म उनके गुणों में  
पंछियों सा गुनगुनाता है  
परमाणु ऊर्जा के परिंदे हैं  
तभी समय मौन रहकर भी गुनगुनाता है  
और पंखों के बगैर  
खुले आकाश में शाश्वत उड़ान भरता जाता है।

## परमाणु अगर पत्ते होते

होते क्या हैं  
ब्राह्मण के ऊर्जा वट वृक्ष में  
समय की तरह लहलहाते  
जाने किन टहनियों पर टंगे-टंगे थरथराते?  
झड़ते...उगते...पर कम नहीं होते  
इधर-उधर  
भटकते... सरकते  
अपनों में ही  
प्रकाश गति से  
किसी का भी हाथ पकड़ते  
छोड़ते  
परिस्थितियों और मनःस्थितियों जैसे  
भांति-भांति के पदार्थ  
बनते...बनाते  
परिणामन की धूल उड़ाते  
खड़े-खड़े  
करोड़ों मील दौड़ जाते  
इनके स्रोत की थाह  
हम कदाचित नहीं पा पाते।

## पत्र

### जेल से लिखे : फ़ैज़ के पत्र एलिस के नाम

#### प्रस्तुति : शकील सिद्दीकी

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ समर्थ शायर ही नहीं समर्थ गद्यकार भी थे। उन्होंने गद्य में बहुत सारा काम किया है। यह बात दीगर है कि उनकी शायरी की वाह-वाही में उनके गद्य की उपेक्षा होती रही। यह बात यहां उनके पत्रों के संदर्भ में कही जा रही है। ये पत्र उन्होंने पाकिस्तान के विभिन्न जेलों से अप्रैल 1951 से अप्रैल 1955 के बीच पत्नी एलिस को लिखे थे। पत्र मित्रों, प्रकाशकों, संबंधियों और पुत्रियों सलीमा व मुनीजा को भी लिखे गए, परंतु यहां उनके पत्नी के नाम लिखे पत्रों को ही प्रस्तुत किया जा रहा है। तथ्य यह भी है कि आम तौर पर पत्रों को गद्य की बड़ी उपलब्धि की श्रेणी में नहीं रखा जाता क्योंकि उसमें गद्य का कमाल दिखाने की गुंजाइश कम ही रहती है। फिर भी प्रतिभा की प्रखरता तो कहीं भी, छोटी से छोटी रचना में भी अपना कमाल दिखा ही देती है। मिर्ज़ा गालिब जिसका प्रमुख उदाहरण हैं। उनका अंदाजे बयां शायरी ही में नहीं गद्य में भी अलग भंगिमा और आस्वाद लिए हुए है। उनके पत्र जिसका विशिष्ट उदाहरण हैं। जेल से ही लिखे गए मौलाना अबुल कलाम आजाद के पत्र भी अपनी भाषा व अंदाजे बयां के कारण उर्दू गद्य साहित्य में मुस्तकिल अहमियत का दर्जा रखते हैं। दूसरी भाषाओं के भी बहुत से लेखक हैं, जिनके पत्र श्रेष्ठ गद्य कृति को पढ़ने का सुख व बेचैनी एक साथ देते हैं जैसे शमशेर के पत्र। यहां बहुत उदाहरण नहीं दिए जा सकते, फिर भी यहां मामला थोड़ा भिन्न है। एलिस को लिखे गए पत्र मूल रूप से उर्दू में नहीं लिखे गए क्योंकि एलिस यूरोपीय व अंग्रेज़ी भाषी थीं। इसी कारणवश फ़ैज़ उन्हें अंग्रेज़ी में पत्र लिखते थे। प्रस्तुत पत्र भी अंग्रेज़ी से अनूदित हैं। इनके अनुवाद में भी बड़ा दखल फ़ैज़ का ही है। बहुत आग्रह पर मित्र और प्रकाशक मिर्ज़ा जफ़र रूल हसन को डिक्टेशन देकर वह इनका अनुवाद करवाते फिर उनपे नज़रेसानी करते। ऐसे में इन पत्रों में उनकी भाषा व अंदाजे बयां का आ जाना एकदम स्वाभाविक है। पत्र उनके व्यक्तित्व जैसे ही सहज हैं और जीवंत। उनके जैसा ही धैर्य, उत्साह और रूमनियत। औपचारिकताएं तथा अप्रासंगिक प्रसंग हटा दिए गए हैं। उन्होंने उर्दू में अनूदित पत्रों के संलकन का नाम 'सलीबें मेरे दरीचे में' रखा। यातनामयी परिस्थितियों की अनुगूँज नाम में ही मौजूद हैं।

अधिक पत्र जून 1951 से दिसंबर 1951 के बीच के हैं। बाद के वर्षों के भी पत्र हैं परंतु कम। यों तो उन्होंने सर्वाधिक 48 पत्र 1952 में लिखे। कई अर्थों में जो उनकी काव्य यात्रा के बहुत महत्वपूर्ण वर्ष हैं। 1951 का महत्व इस कारण अधिक है कि इसी वर्ष मार्च माह में उन्हें गिरफ्तार किया गया और जेल में डाला गया। इसी काल में खौफ़, संशय और आशंकाएं सर्वाधिक सघन थीं।

यही वह समय है जब उन्मादी देश भक्त और धार्मिक संगठन रावलपिंडी साज़िश केस में गिरफ्तार लोगों को मृत्युदंड देने के पक्ष में जोरदार आंदोलन चला रहे थे, रही सही कसर समाचार पत्र पूरी कर रहे थे अफवाहें भी। निराश करने वाले इन हालात में भी उनके पत्र गहरी उम्मीद की रौशनी से कैसे झिलमिला रहे हैं, यह उन्हें पढ़कर ही जाना जा सकता है। इनमें महसूस किया जा सकता है, फूलों की गंध, मौसम के रंग, एकांत का संगीत तथा विछोह का माधुर्य, निश्चय ही इनकी दस्तावेजी हैसियत है :

**हैदराबाद जेल, 9 सितंबर, 1951**

आज इतवार है। सुबह आंख खुली तो रोज़मर्रा की तरह अपनी बैरक की बैरौनक दीवारों और चारपाइयों के हुजूम के बजाए एक नर्म व नाजुक पौदे पर नजर पड़ी जो हवा में झूम रहा था। उसके महीन पत्तों में से दूर कहीं एक-आध सितारा झांक रहा था और एक बहुत बड़ा सफेद परिंदा बिलकुल मोती के रंग जैसा आसमान की जानिब उड़ान भर रहा था। यह अजूबा इसलिए हुआ कि दो दिन पहले हमें कुछ और रिआइतें दी गईं, जिनमें एक यह है कि अब अगर हम चाहें तो बाहर खुले में सो सकते हैं। पहली दो रातें तो मैंने बैरक के अंदर ही गुजार दीं। दिल में अब भी कुछ नाजुक मकाम ऐसे हैं जिनसे कोई याद छू जाए तो दुखने लगते हैं। इसलिए सिंध के रेगज़ारों के गुदाज़ आसमान और पिछले पहर के उदास चांद को देखने से डर लगता था लेकिन कल रात हमारे बैरक रूम में कुछ ऐसी भगदड़ मची कि आखिर मुझे भी बाहर आना पड़ा। बाहर की मानूस फिज़ा से बार-बार नींद उचटती रही लेकिन यह बेख्वाबी बुरा सौदा नहीं था, सिर्फ इस वजह से नहीं कि बाहर रात का मंजर कुछ और होता है बल्कि इसलिए भी कि अब मौसम भी बदल चुका है और गर्मी की उकता देने वाली यकसानियत के बजाए हवा, रौशनी और आसमान दिन रात में कई बार दिल तड़पा देने वाले रंग बदलते हैं। खास तौर पर शाम ढले जब पहले पहल सितारे तुलूअ होते हैं तो आसमान के नज़ारे से महज वुसअत (विस्तार) और फासले ही का एहसास नहीं होता बल्कि उसमें रंग ओ हरकत के उतार-चढ़ाव से ऐसे गूनागूं नक़्शे बनते हैं कि दिल खुश हो जाता है। आजकल बहुत शिद्दत से अपनी जिंदगी का सबसे दिलकश बसेरा याद आ रहा है। यानी देहली में लोदी रोड वाला घर और बरिश के बाद गिर्दो पेश का समां पठान मक़बरो के ग्रैंडियल गुंबद, वह हमारे घर के सामने का तिलिस्मी पुल और उसे चुमती हुई कहकशां की कमान। इस दर्द की चुभन दिल में न हो तो आदमी कभी पूरी तरह महसूस ही नहीं कर पाए कि जिंदगी किस कदर मेहरबान और कितनी हसीन है। अफसोस कि हमने कभी गांव में छुट्टियों के दिन साथ नहीं गुजारे वरना मैं तुम्हें कुछ और भी पुरानी यादों में शरीक कर सकता। जो आजकल यहां छुट्टियों की सुबहें दिल में जगाती रहती हैं। जेलखाने के सेहन में चारपाइयों की कतार और लिपटे हुए बिस्तरों के अंबार, ऊंची-ऊंची दीवारों पर तेज़ रौशनियां और लंबे साए, हर तरफ गुनूदिगी, अलकसाहट की सी फिज़ा तेज़ रू हवा में पत्तों की सरसराहट पर बहते हुए पानियों की आवाज़ का धोका, इन सब बातों से अपने गांव के छुट्टियों के वह बीते हुए दिन याद आते हैं, जब हम बहुत छोटे थे और हिल स्टेशनों पर जाने का अभी फैशन नहीं चला था। यहां आस-पास किसी तरह चंद भैंसे और रहट की रू-रू पैदा हो जाए तो गांव का मंजर मुकम्मल हो जाए मैं जेलखाने की रिआयतों की बात कर रहा था हमें एक रेडियो सेट भी मिल गया है। आरामकुर्सी मेज़ की लैंप और कुछ दीगर साजो-सामान का भी वायदा हो चुका है। अब

तो हम में से बाज को यह फिक्र लाहक हो गई है कि यहां से निकले तो जिंदगी का यह मयार कैसे कायम रख सकेंगे।

तासीर का मसख्बिदा जब भी मिला मैं साफ करके भिजवा दूंगा किरस (श्रीमती तासीर) और बच्चे कैसे हैं। अखबारात में किरस का नाम बार-बार नजर आता है। मालूम होता है कि वह कोई बड़ी फौजदार हो गई हैं, यह भी देखा कि बेगम इरफान उल्लाह की तस्वीर आखिरकार पाकिस्तान टाइम्स में छप ही गई और वह भी बहुत नुमायां तौर से और कोई नई खबर नहीं है सिवाय इसके कि ईद के लिए बड़े पैमाने पर एक दावत का एहतिमाम हो रहा है। पहली दफा तमाम कैदियों के बीवी बच्चे यहां जमा होंगे और हमें इज़ाजत मिल गई है कि उस दिन हम सब साथ मिलकर खाना खा सकेंगे। चुनाचे आजकल मुर्ग-कोरमा और बिरयानी के सिवा दूसरा कोई बातचीत का मौजूद नहीं है।

**हैदराबाद जेल, 19 सितंबर 1951**

छुट्टी का हफ़ता खत्म होने को है और कल से हम फिर अपनी रोजमर्रा दफ़्तरी मशक्कत (अदालत से संबंधित) करेंगे, इस हफ़ते में हमारे यहां दो अदद सोशल तकरीबीत मुअकिदत (आयोजित) हुईं। पहली तो दूसरे घर (दूसरे वार्ड) में रात के खाने की दावत थी जिस पर मैं और एक साहब मदरू थे। यह तकरीबीत इस खुशी में मुअकिदत हुई कि ब्रिगेडियर लतीफ ख़ां को उनकी बेगम ने कॉफी बनाने का एक प्रोकोलेटर, कुछ आम और फल भेजे थे। अपने को यह तास्सुर दिलाने के लिए कि हम बाहर खाने पर जा रहे हैं। हमने नहा धोकर पुरतकल्लुफ़ लिबास पहना और देर तक गप करते रहे। दूसरी शानदार तकरीबीत वह ईद पार्टी थी जिसका जिक्र पहले कर चुका हूं। उसमें पहली बार मुझे बच्चों की हँसी की दिलकश मौसीकीनी का एहसास हुआ। अगर्चे इससे पहले मुझे बच्चों का शोरगुल बिल्कुल अच्छा नहीं लगता था। बहुत जी चाहा कि तुम भी यहां होती लेकिन शायद अच्छा ही हुआ, कि तुम नहीं थीं। इस किस्म की मुलाक़ात का अंजाम हमेशा दर्दओं हसरत का ख़ामियाज़ा होता है। मुझे तमाम वक़्त यह ख़याल सताता रहा कि मसरत और खुदफ़ रामोशी के चंद लम्हे गुजर जाने के बाद उन बेचारे बीवी बच्चों के दिल में रंजओफिराक का घाव और भी गहरा हो जाएगा। लज़ज़तपरस्ती के फ़ालसफ़े में इस सवाल का कोई जवाब नहीं मिलता कि अगर वक्ती लज़ज़त के बाद उस लज़ज़त से ज्यादा दुःख उठाना पड़े तो इस लज़ज़त से गुरेज करना चाहिए। इस सवाल का हल मुश्किल इसलिए है कि इस लज़ज़त और दर्द का तनासुब पहले से दरियाफ़्त नहीं किया जा सकता। यहां हम जिंदगी की छोटी-मोटी तफ़सीलात में इतना उलझे रहते हैं कि अख़लाक व फ़ालसफ़े के बेकार मसायल से उलझने के लिए न वक़्त है न दिमाग। मिसाल के तौर पर अभी कुछ दिन पहले हमें एक रेडियो सेट इनायत हुआ था और सब लोग उसमें ऐसे डूबे रहते हैं जैसे दीमी (बड़ी बेटी) फिल्मी गानों में! फिर हमारे वार्ड की काली बिल्ली ने दो तीन बहुत नाजुक सफ़ेद और स्याह बच्चे दिए और सब लोग उनकी परवरिश के पेचीदा मसअलों में उलझ कर रह गए। इस के बाद ईद के खाने की तफ़सीलात पर बहस ओ तकरार शुरू हुई। इनके इलावा बीसों मसअले और भी हैं, मसलन कोठरियों के पर्दे कैसे होंगे? पढ़ने की मेज़ें कब मिलेंगी, सुबह की चाय किस वक़्त आएगी वगैरा-वगैरा और इस तमाम मुद्दत में एकसां दिनों की ठहरी हुई सतह पर याद के साए लंबे होते जा रहे हैं और वक़्त की नब्ज देखते-देखते सुस्त रफ़्तार होती जा रही है। अब दिन छोटे होते जा रहे हैं और सुबह जब हम चाय के लिए उठते हैं तो रात का अंधेरा कुछ-कुछ बाकी होता है।

न जाने कितने सालों के बाद शब के खामे पर अंधेरे में पौ फटने का समां और चांद के हल्के नुक रई (चांदी जैसे) को रूपहले बनते देखा है। जेल की दीवारों के बावजूद यह सब हसीन है और ऐसे लम्हों में ज़िंदगी की सब बेवफा इयों के बावजूद उसका शुक्र अदा करने को जी चाहता है।

**हैदराबाद जेल, 30 अक्टूबर**

आज तुम्हारा खत मिला बड़ी राहत हुई, आज हमारी शादी की सालगिरह है। दुआ है कि तुम्हें, बल्कि हमें कई बार देखना नसीब हो। इन दस बरसों में हमने बहुत सा सुख देखा है और थोड़ा सा दुःख भी। लेकिन हमने ये तमाम दिन दियानतदारी और सुकून से गुजारे हैं और ज़िंदगी में सबसे अहम बात यही है तो आओ इन बीते हुए दिनों का शुक्राना अदा करें, यह दस बरस ऐसी दौलत हैं जिसे कभी फना नहीं, और जिसे कोई छीन नहीं सकता। अगर किसी का आखिरत या आसमानी सहकामात पर ईमान हो तो नेकी और अखलाक के हक में सबसे बड़ी दलील यही है कि जो लम्हा हक व सदाकत की परवरिश में गुजरे वह अपने आप में खुशी का ऐसा खज़ाना बन जाता है जिसे कोई रहज़न लूट नहीं सकता; न कोई जाबिर जब्त कर सकता है। शायद मज़हबी नज़रिए से अखिरत के सामान के सही मानी यही हैं। तुमने अपने घर की तनहाई का ज़िक्र किया है मैं जानता हूँ कि यह तनहाई कितनी कड़ी और जुदाई के यह लम्हे कितने गरां हैं। इनको दिल से धोया नहीं जा सकता लेकिन इनका बोझ इस तसव्वुर से कम ज़रूर किया जा सकता है कि बीते हुए दिन कितने अच्छे थे और आने वाले दिन कितने बेहतर होंगे। मैं तो यही करता हूँ, जब से जेलखाने का दरवाजा बंद हुआ है मैं कभी माज़ी (अतीत) के पैरहन को तार-तार करके उसे मुख्तलिफ सूरतों में दुबारा बुनता रहता हूँ। और कभी आने वाले दिनों को दामे तसव्वुर में कैद करके उनसे अपनी मर्ज़ी और पसंद के मुख्तलिफ एलबम तरतीब देता रहता हूँ। जानता हूँ कि यह बेकार सा शगल है इसलिए कि ख़्वाबों को हकीकत की जंजीरों से आजाद नहीं किया जा सकता लेकिन इतना ज़रूर है कि थोड़ी देर के लिए आदमी तख्युल (कल्पना) के बल पर गिदों पेश की दल-दल से पांव छुड़ा सकता है। फरारियत (पलायन) बुरी बात है लेकिन जब हाथ पांव जकड़े हुए हों तो आजादी की वाहिद सूरत यही रह जाती है। इसी नुस्खे के तुफैल मुझे जेल की सलाखें बहुत ही हकीर और बेहकीकत दिखाई देने लगी हैं और बेश्तर औक़ात उनकी तरफ ध्यान ही नहीं जाता।

तुम कहोगी कि हम बुक राती झाड़ रहे हैं इसलिए आओ कोई और बात करें। चंद दिन मैंने रेडियो खोला तो मालूम है उस जानिब कौन था। अपने ए.एस.बी. (अहमद शाह बुखारी पतरस व्यंग्यकार तथा रेडियो के निदेशक) अमरीकी अखबारों की खिंचाई कर रहे थे। बहुत लुत्फ आया। खासतौर पर इतनी बहुत सी अमरीकी नकीली आवाज़ें सुनकर अमरीका के लिए दिल उदास हो गया 'डाक्टर बुकारी क्या आजकल किसी मुल्क के लिए वाकई गैर जानिबदार होना मुम्किन है' बुखारी साहब ने जवाब दिया "भई वाकया है कि आजकल कुछ मुल्क वाकई गैर जानिबदार हैं और अगर गैर जानिबदारी मुम्किन नहीं तो ऐसा क्योंकर हुआ?" बहुत दिल्लगी रही।

यहां गर्मी का मौसम गैर मामूली तौर से तवील होता जा रहा है। रातें ठंडी हैं लेकिन दिन अब भी गर्म है। गर्चे बहुत नाखुशगवार नहीं मालूम होता है कि दुनिया के इस हिस्से में कि गुलाबी जाड़ों की वह जादू भरी रूत-वारद ही नहीं होती, जिससे हम पंजाब में आशना हैं। वह मौसम जब हवा का हर झोंका किसी के प्यार का लम्स महसूस होता है और गुदाज़ आसमानों में किसी दोशीज़ा के



जिस्म की सी नर्मी और आंच महसूस होती है। खैर ऐसे मौसम से आसूदिगि-ए नफ्स (ऐंद्रिय संतुष्टि) का कुछ बदल मुझे उस खुशबू से हाथ आ जाता है जो तुमने भेजी थी और जिसे मैं हर रात अपने तकिए पर छिड़क देता हूँ। पहली शाम जब यह खुशबू हमारे बरामदे में बिखरी तो शहरे जिन्दा में दौड़ गई।

मैंने फ्रांसीसी में काफी तरक्की कर ली है। जब हम मिलेंगे तो फ्रांसीसी में गुफ्तगू करेंगे इसलिए अगले साल पेरिस जाने का प्रोग्राम पक्का कर लो। कुछ दिनों बाद मुझे कोई फ्रांसीसी किताब दरकार होगी। मोपासां या किसी और मुसन्नफ की किताब जो सलीस और सादा ज़बान में हो मिल सके तो भिजवा दो।

**हैदराबाद जेल, 16 नवम्बर 1951**

गुज़िश्ता दो चार दिन में तुम्हारे तीन खत मिले सुब्हान अल्लाह। अख़बारात से पता चला कि कराची वाले मुस्ताज़ हुसैन रिहा हो गए हैं, इसलिए अब उम्मीद है कि मेरे मज़ामीन बरामद हो सकेंगे, मैं उन्हें इस बारे में लिख रहा हूँ।

अगर अदबेलतीफ वाले मेरी नज़्में छाप चुके हैं तो मुझे कोई ऐतराज नहीं लेकिन उन्हें कहलवा दो कि इनका मुआवज़ा तुम्हें भिजवा दें और जिस शुमारे (अंक) में छपी है वह मुझे भिजवा दो।

बुद्ध इस ख़त के लिए तुम्हें मामूल से ज़्यादा इंतजार करना पड़ा जिसके लिए माज़रत चाहता हूँ। गुज़िश्ता चंद दिन बहुत बेकैफी में गुजरे और अपने रोज़ाना फ्रांसीसी सबक के इलावा बहुत कम पढ़ना लिखना हो सका। बाज़ औकात जिंदगी और वक्त दोनों इस तरह साकित हो जाते हैं कि हाथ पांव हिलाने का बिल्कुल जी नहीं चाहता। ये लम्हें जिस तरह बेवजह और बेसबब वारद होते हैं वैसे ही गुजर जाते हैं इसलिए जिंदगी के मामूल में ऐसा कुछ फर्क नहीं आता। ये वक्फे (अंतराल) उसी मावराई कैफ़ियत का एक हिस्सा है, जिसका मैंने गुज़िश्ता खत में तज़क़िरा किया था।

तुम्हारे ख़त पहले से ज़्यादा बशाशत मालूम होते हैं जो खुशी की बात है। अगर्चे मैं जानता हूँ कि शायद तुमने यह बशाशत मुझे खुश करने के लिए इख़्तियार की है लेकिन यह जानते हुए भी दिल खुश होता है। हमारे दोस्त और वही ख़्वाह अपना मन लुभाने के लिए जो खुशआयंद अफवाहें फैलाते रहते हैं, मैं उन्हें ज़्यादा अहमियत नहीं देता लेकिन इन अफवाहों से कतानजर इसमें क्या शक है कि आखिरकार हालात सुधर ही जाएंगे। जो भी दिन गुजरता है उससे निजात की मंज़िल का फासला और कम हो जाता है। चुनांचे इस आजमाइश के ख़ात्मे तक सब्र के सिवा चारा क्या है? हां इस ख़्याल से तस्कीन ओ तसल्ली जरूर होती है कि कुछ लोग हमें भूले नहीं हैं और हमारी तकलीफ के लिए उनके दिल में हमदर्दी मौजूद है और जब इस हमदर्दी का इज़हार मौजूदा दौर की एक ऐसी अजीम शख्सियत की जानिब से हो जैसे कि पाल राब्सन (अमरीकी गायक) तो फख्र से सर ऊंचा हो जाता है।

मुझे यह देखकर अफसोस हुआ कि अखबार में तुम्हारे सफे पर अब नैना (एक कलमी नाम) नजर नहीं आती। तहरीरी मुकाबलों का ख़्याल अच्छा है लेकिन क्या इसके साथ ख़्वातीन के लिए किसी बहस या समाजी फीचर की इख़्तिदा नहीं हो सकती? किसी अखबार को पॉपुलर बनाने का एक सीधा तरीका यह है कि पढ़ने वालों के एक खास तबके की दिलचस्पी का ख़्याल रखा जाए। यह तबक ख़्वाह कितना ही छोटा हो, उसे मुस्तक़िल ख़रीदारी की तरगीब दी जाए। अगर एक पढ़ने

वाले को पक्का कर लो तो वह यकीनन तुम्हारे लिए एक-आध पढ़ने वाला और फ राहम कर देगा। मैं नहीं कह सकता कि औरतों का कौन सातबका सबसे जल्द मुतास्सिर किया जा सकता है। यह इस बात पर निर्भर है कि कौन सा तबका रोजाना अंग्रेजी अखबार पढ़ता है। कॉलेज की लड़कियां, ईसाई और एंग्लो पाकिस्तानी ख्वातीन मुलाजिम पेशा औरतें और अफ सरों की बेगमात गालेबन तुम्हारे पढ़ने वालों में यही लोग होंगे और तुम इनमें से किसी का भी इतिखाब कर सकती हो। अगर इन तबकों में से कोई मुस्तिकिल लिखने वाला मिल सके तो अंदाजा हो सकता है कि यह लोग क्या चाहते हैं और फिर वहीं कुछ वहम पहुंचाया जा सकता है।

सर्दियों का मौसम आ चुका है। यहां न पेड़ हैं न फूल हैं इसलिए यह मौसम ज़रूर और बेरंग सा नजर आता है। तुम्हारे आने के बारे में यह है कि मुलाकात कैसी भी मुख्तसर क्यों न हो मेरे लिए बाआने मसरत होगी...

**हैदराबाद जेल, 28 नवंबर 1951**

यकायक तुम्हारे खत कुछ गायब से हो गए हैं मेरे गुजिश्ता तीन खतों में से किसी की रसीद नहीं आई।

सर्दियां शुरू हो चुकी हैं और उजाड़ बेमक्सद दिन हमारी सर्द व गुंग दीवारों पर अपना हुस्न न्यौछावर करते हुए तेजी से गुजर रहे हैं। इनसे मुझे तुम्हारा और तुम्हारी तनहाई का ख्याल आता है। क्योंकि मैं अपने जिंदों में गालेबन इतना अकेला नहीं हूँ जितनी तुम अपनी आज़ाद दुनिया में हो। दिल तो यहां भी दुखता है लेकिन मैं इसे बहलाना जानता हूँ और कभी यह ज्यादा परेशान करने लगे तो बिला इरादा लंबी तानकर सो जाता हूँ। जहां ख्वाबों पर कोई जंजीरें नहीं हैं लेकिन इसकी जरूरत बहुत कम पेश आती है। इसलिए कि अपनी गिरह में उम्मीद भी बहुत है।

कल रात एक नई गज़ल मुकम्मत हुई (अजज अहले सितम की बात करो) कोई साढ़े दस बजे मैंने सब साथियों को सुनने के लिए बिस्तर से उठाया इसके मानी यह हैं कि आग अभी बुझी नहीं और यह है तो किसी चीज का क्या गया। मुझे खुशी है कि तुमने चेखव की किताब भेज दी। पढ़ने में बहुत लुत्फ आ रहा है। चेखव की तहरीर से कितना गहरा प्यार और कितनी बेपनाह शफकत (वात्सल्य) टपकती है। उसके ड्रामे इतने सुबक हैं कि उन्हें ट्रेजडी नहीं कह सकते और रंजो मलाल से उसकी लगन भी ऐसी ही लतीफ है लेकिन चेखव के ड्रामों की बुनियादी खूबी उम्मीद और हमदर्दी है, जिससे उसका हर ट्रेजिक सीन लबरेज़ नजर आता है।

अदालत ने वकील की फीस के बारे में मेरी दरख्वास्त मुस्तरद कर दी है। उनका जवाब गालेबन तुम तक पहुंच चुका होगा। तुम इसका कुछ ख्याल न करो और उन्हें कोई तल्ख जवाब भेजने की लालच में न आओ। मेरे ख्याल में यों ही ठीक है। इतनी सी बात के लिए कोई एहसान उठाना जरूरी नहीं था। नवाज़िश ने इस बारे में कोई किस्सा नहीं किया। जब तुम आओगी तो इसका तय कर लेंगे। दीमी (बड़ी बेटी) का बहुत प्यारा लंबा खत मिला और मीजो (छोटी बेटी) के खुफि या इशारों का मतलब भी समझ लिया। उन्हें कह दो कि मैं जवाब इसलिए नहीं भेज रहा हूँ कि दीमी की सालगिरह के लिए एक नज़्म और कहानी लिख रहा हूँ, जल्दी भिजवा दूंगा।

**हैदराबाद जेल, 14 दिसम्बर 1951**

अब के लिखने में फिर तारीख हो गई। वजह यह थी कि तुम्हारे जाने के बाद हम एक नज़्म

में उलझ गए थे जो आज ही खत्म हुई है। शायरी का दौरा कभी-कभी पड़ता है और जब पड़ता है तो डर लगता है कि अगर तवज्जोह ज़रा इधर-उधर हुई तो यह कैफियत का फलफूल हो जाएगी। यह नज़्म जो अभी हुई है (दरबारे वतन में जब इक दिन सब जाने वाले जाएंगे) एक तरह का तराना है जो मैंने पहले नहीं लिखा शेर तो शायद अच्छे नहीं हैं लेकिन नारेबाज़ी बुरी नहीं है इस खत के लिए तुम्हें भी इंतजार में रखा, इससे ज्यादा यह कि छिमी की कहानी भी रुकी रही और वक़्त पे खत्म नहीं हो सकी। कल और आज का सारा दिन उसका प्यार सताता रहा, उसको तोहफा भेजने में दुःख की चुभन भी शामिल थी। मैंने अतहर (वकील) से कहा था कि वह कुछ खरीदकर भेज दें लेकिन मुझे कुछ अंदाजा नहीं कि लड़कियों के मलबूसात (लिबास) के बारे में उनका ज़ौक कैसा है। अगर्चे मैंने अपनी हक़ीर मालूमात उन्हें बता दी थीं। मुझे कुछ मालूम नहीं कि उन्होंने क्या भेजा। खुदा करे कोई बहुत बदशक्ल चीज़ न हो। इस बात से थोड़ा सा रंज हुआ कि मैं अपनी बच्ची के लिए यह तोहफा खुद पसंद नहीं कर सका। इसलिए कि मुहब्बत से कोई चीज़ चुनी जाए और भेजी जाए तो उसकी अपनी एक लज़ज़त होती है, वह इस ख्याल से कि शायद तोहफे के साथ वह प्यार भी जो उसके इंतिखाब में सर्फ़ हुआ अपने महबूब तक पहुंच सके। खैर इस बात को छोड़ दो यह बताओ कि सालगिरह कैसी मनाई गई ताकि मैं दिल ही दिल में शरीके महफिल हो सकूँ- आजकल मैं Dqudet की किताब सैफ़ू पढ़ रहा हूँ। तुमने कभी पढ़ी है? बहुत खूबसूरत किताब है। अफसोस कि जवानी के दिनों में नहीं पढ़ी। उस जमाने में शायद दिल पर ज़्यादा असर होता। खैर अब भी पढ़ने में काफी लुत्फ़ आया। जेलखाने में एक खूबी यह है कि वह तहय्युर (जिज्ञासा) और एहसास की नज़ाकत जो पुख़्ता उम्र में आदमी खो बैठता है, दुबारा लौट आती है।

आज हमारे कैप में एक हल्का सा हंगामा हुआ। वजह यह थी कि एक हुक्म के मुताबिक हमें दुबारा रात को बंद होने की हिदायत जारी की गई थी लेकिन यह हुक्म अमल होने से पहले ही मनसूख कर दिया गया। रात को बंद होने या न होने में जिस्मानी तौर से तो कुछ ऐसा फर्क नहीं पड़ता लेकिन नफिसयाती एतबार से यह फर्क काफी अहम होता है। खास तौर से जब रातें इतनी हसीन हों जैसी कि आजकल हैं। कभी-कभी जब मैं रात को जल्दी सो जाता हूँ और मुंह अंधेरे आंख खुल जाती हैं तो सहने जिंदा के सुकूत और सुबह की दिलकशी से अजब फरहत ओर तस्कीन मिलती है। मैं बार-बार यह दोहराना नहीं चाहता कि सफ़र कैसा ही सुस्त रफ़्तार क्यों न हो मंज़िल करीब है।

**हैदराबाद जेल, 24 दिसंबर 1951**

तुम्हारे खूबसूरत तोहफे का बहुत शुक्रिया। इससे जेल में काफी सनसनी पैदा हुई और मेरे साथियों को बहुत रश्क आया। तुम्हारे दोनों खुतूत मिल गए हैं और अब मैं बिल्कुल खुश और मुतमइन हूँ। अदालत दो दिन पहले मुलतवी हो गई थी, अब हमें दो तारीख तक छुट्टी है। मुकदमे की पहली सी गहमागहमी खत्म हो चुकी है और अब हम इस सिलसिले में अपने को ऐसा बेतअलुक महसूस करते हैं कि मुकदमे के बारे में कोई काम या मेहनत करने को जी नहीं चाहता बल्कि उससे सुखन (सुखन की दुल्हन-कला की देवी) से गाहे-गाहे मुलाकात के इलावा और किसी चीज़ को हाथ लगाने को दिल मायल नहीं होता। टेनिसन की नज़्म 'लोटस ईटर्स' का मफहूम अब पहले से कहीं बेहतर समझ में आया। अगर्चे यहां कोई कंवल का फूल या गुले लाला (एक ईरानी फूल) नहीं है।

अगर गिर्दों पेश की फि ज़ा बदल दी जाए तो जेहनी क ैफि यत के सब लवाज़मात वहीं हैं जो टेनिसन ने बयान किए हैं यानी खिली हुई धूप में रौशन दिन महज सुस्ताए हुए गुजर जाते हैं। तख्ता या समन पे न सही, चारपाई या आरामकुर्सी पर सही, रातों की लंबी खामोशी हसीन ख़्वाब देखते हुए तय हो जाती है। इस मुकम्मल जेहनी और जिस्मानी सुकून में (सरेशाम वालीबाल के खेल के इलावा कभी तनहाई, खूबसूरत ख़्यालात, तसव्युरात, मौसीकी और रंग व बू तिकड़े फि ज़ा में लहराते हैं। उन्हें कैद करके फन्नी कोशिशों से हकीकत में तब्दील करना मेहनत चाहता है जो हम कर नहीं पाते इसलिए ये सब जैसे पास से छूकर निकल जाते हैं, जिसका अफ सोस होता है।

फूलों का जिक्र आया है तो अब हमने एक छोटा सा बाग सजा लिया है और हमारे सेहन का एक कोना मुख्तलिफ रंगों से दहक रहा है। यहां गेंदे के फूल हैं, बसंती, सुनहरी और सुर्ख फूलों की बेलें हैं। गुलाबी कासनी और गेरुवे रंग की कुछ गुलाब के पौधे भी हमने लगाए हैं। हालांकि इनमें अभी फूल नहीं आए हैं। मुझे बहुत खुशी है कि छीमी को मेरा तोहफा वक्त पर मिल गया इससे तुम्हें यह फि क्र नहीं होनी चाहिए कि हम बहुत मुस्तैद हो गए हैं बल्कि यहां तो हर रोज काहिली में इज़ाफा होता जा रहा है। असल में तुम लोगों से प्यार इतना है कि कभी-कभी मेरी नालायकी शिकस्त खा जाती है।

तुमने जिस अखबार का जिक्र किया है वह मुझे नहीं मिला हस्बे मामूल रास्ते में खो गया होगा। खैर ऐसी कोई बात नहीं। आजकल दो एक गिनाइया (लिरीकल म्यूजिकल) नज्में शुरू कर रखी हैं जो ग़ालेबन जल्द ही खत्म हो जाएंगी। लेकिन यह शायरी है बहुत बकवास। इसकी वजह से और सब काम रुके रहते हैं जिनमें तुम्हें खत लिखना भी शामिल है और आखिरकार जो नतीज़ा बरामत होता है वह बेशतर औकात ना तसल्लीबख़्श होता है कि उसे रद्दी की टोकरी में फेंकना पड़ता है, इसे बन्ने बलडी परफेक्शनिज़्म कहते हैं, और कभी कोई नतीजा बरामद ही नहीं होता और बहुत सा कीमती वक्त मुफ्त में ज़ाया हो जाता है लेकिन शायद इसका कोई इलाज नहीं।

सर्दियों का मौसम तो यहां महज़ बराय नाम है। सिर्फ दिन निकलने से पहले थोड़ी सी ठंडक होती है, तुम्हें सुनकर ताज्जुब होगा कि मैं अभी तक ठंडे पानी से नहाता हूं, जो एक-दो के अलावा और कोई नहीं करता, और इस कारनामे पर बहुत खुश हूं। मेरी सेहत बहुत अच्छी है और मेरे रंजओ राहत दोनों की खुराक तुम लोगों की यादें हैं जिनके लिए मैं फ ख भी महसूस करता हूं।

**हैदराबाद जेल, 15 अक्टूबर, 1951**

आज रात हमारे यहां मुशायरा है। देखें हमारे सिपाही नौजवान क्या लिखकर लाते हैं, लुत्फ रहेगा। कल मुझे उन्हें शायरी पर लेक्चर देना है। मुकदमे के सिलसिले में भी काफी काम रहता है और जितना काहिल बनने को जी चाहता है, उतनी फरागत मयस्सर नहीं आती।

बन्ने (सज्जाद जहीर) को एक खत महमूद (मुहमुदुज़्ज़र) और रशीदा (रशीद जहां)।

**हैदराबाद जेल, 2 जनवरी, 1952**

तुम्हें और तुम्हारे घराने को नया साल मुबारक और खुदा करे कि यह साल तुम्हारी मुसीबतों के ख़ात्मे का दिन जल्दी करीब लाए। आज तुम्हारे दो खत मिले। मुझे अफ सोस है कि मेरा गुज़िश्ता खत ताख़ीर से भेजा गया। अब तक पहुंच गया होगा, और नए साल का तार भी। तुम्हारे 23 तारीख वाले खत से सब लोग बहुत महज़ूज़ हुए। ख़ास तौर पर फिल्म वाले हिस्से से। शायद मैं तुम्हें पहले

भी लिख चुका हूँ कि यहां के हंगामों में एक तो यह फि क्र जां को लगी हुई है कि रिहाई के बाद हम जेलखाने का सा मेचोर जिंदगी कैसे कायम रख सकेंगे और दूसरे यह कि यह बेवजह शहरत हमें कैसे मिलेगी जो मिलती जा रही है।

छुट्टियां खत्म हो गई हैं और अदालती मामूलात शुरू हो गए हैं अपने को रोज़ अदालत में घसीटना बहुत नागवार लगता है। वक़्त की यह बरबादी नाकाबिले माफी है। खास तौर से तब जब जिंदगी इतनी मुख़्तसर हो और करने को इतना कुछ रखा है। अंग्रेज हमारे लिए जो कानूनी निजाम छोड़ गए हैं उसके बिला शुब्हा कुछ अच्छे पहलू भी हैं बल्कि बहुत से अच्छे पहलू हैं लेकिन उसकी थका देने वाली लातादार रूढ़ियों (जिनका मकसद तो बेगुनाहों की हिमायत है) पर वक़्त और पैसा इतना ज्यादा खर्च होता है कि एक आम इनसान जिसका सब्र और पैसा दोनों महदूद हों इनकी ताब नहीं ला सकता।

अब तुम्हें यहां का हाल सुनाएं। अदालत बंद होने के सबब पूरा दिन और सारा वक़्त अपना था, जब तक जी चाहे बिस्तर पर पड़े रहो, जो रईसों की शान है (अगर्चे मैंने इससे ज्यादा फायदा नहीं उठाया)। दिन का आगाज नाश्ते के बाद बैडमिंटन की एक तेज बाजी से होता है इसके बाद ठंडे पानी से गुस्त (स्नान) सुनती हो ठंडे पानी से, इसके बाद हम सब अपने हमसायों के यहां कॉफी और गपशप के लिए जाते हैं। उनकी बैरक 'खानकाह' कहलाती है इसलिए कि वहां ब्रिगेडियर लतीफ ख़ां मुक़ीम हैं जिन्हें हमारे गिरोह में सूफ़ी बुजुर्ग का मक़ाम हासिल है। हमारी बैरक 'सराय' कहलाती है। इसलिए कि यहां हर वक़्त गुलगुपाड़ा रहता है। कॉफी के बाद सब दोपहर के खाने के लिए हमारी बैरक में वापस आ जाते हैं। खाने के बाद शतरंज की एक बाजी और इसके बाद लोग सोने या ग़ौरोफ़िक्र के लिए अपने-अपने कमरों में चले जाते। इसके बाद चाय और खेल। खेल के फ़ौरन बाद मेरे दीवानखाने में राबाना महफ़िल जमती है। आजकल मैं महफ़िल को शेक्सपीयर पढ़कर सुनाता हूँ। फिर खाने की घंटी बजती, खाने के बाद लोग रेडियो सुनते या गप करते हैं।

क्रिसमस के दिन बेगम जुनेजोने (जेल में बंद एक सैनिक अधिकारी की पत्नी) एक बड़ा सा क्रिसमस केक कुछ गुब्बारे और झंडियां भेज दीं और मैंने चुपके से पुरतकल्लुफ खाने का आर्डर दे दिया, जेलखाने में आर्डर देना शायद तुम्हें अजीब लगे लेकिन यहां तो ऐसा ही है, शाम के लिए मुशायरा पहले से तय था। एक कोठरी खास तौर से सजाई गई और जनाब मुहतरम जनरल नजीर साहब की सदारत में मुशायरा अंजाम को पहुंचा, बिलकुल सचमुच का मुशायरा मालूम होता था। कल नए साल की मुबारकबाद का एक बहुत ही मुहब्बत भरा ख़त बन्ने (सज्जाद जहीर) की बेगम से वसूल हुआ जिसे पढ़कर दिल भर आया। इस दुनिया में बहुत सी बदी के बावजूद इतनी नेकी अपने हिस्से में आई है कि उसका हक हम कभी अदा नहीं कर सकते।



## संस्मरण

# गर्माहट भरे दोस्ती के हाथ

महावीर अग्रवाल

आधुनिक हिंदी के उन कलमकारों में जो शिखर के आसपास पहुंचने की जुगत में हैं या पहुंच चुके हैं, उनमें से अधिकांश में उभरते हुए साहित्यकारों के प्रति एक असहजता अथवा उपेक्षा का भाव मैंने लगातार देखा है। इसके विपरीत कमलेश्वर के सहज व्यवहार में नए से नए साहित्य जिज्ञासु के लिए स्नेह का भाव नजर आता था। स्वाभाविक सहजता उनका ऐसा दुर्लभ मानवीय गुण था जो तथाकथित बड़े साहित्यकारों में गायब होता जा रहा है। सहजता और मिलनसारिता के गुण ने उन्हें लोकप्रियता के इस मुकाम तक पहुंचाया है। पाठकों का इतना अकूत प्रेम ऐसी व्यापक जनस्वीकृति हमारे समय में किसी भी दूसरे रचनाकार के खाते में दर्ज नहीं है।

शिष्टाचार कमलेश्वर के व्यक्तित्व की विरल विशिष्टता है। मैंने देखा है, लगातार महसूस किया है, कमलेश्वर अपने पाठकों, प्रशंसकों और मिलने जुलने वालों से हमेशा दिल खोलकर मिलते थे। महान साहित्यकार का मुखौटा उन्होंने कभी नहीं लगाया। वे हर मिलने वाले को भरपूर स्नेह और अपनापन देते रहे हैं। कमलेश्वर के पास जो भी पहुंचे- छात्र छात्राओं और आम आदमियों से लेकर सामान्य साहित्य साधकों तक कोई अपने आपको छोटा महसूस नहीं करता क्योंकि वे अपने बड़प्पन से सामने वाले व्यक्ति के काम को बड़ा बताकर उसकी हौसला आफजाई करते। अपने 16 जून, 94 के एक पत्र में उन्होंने मुझे लिखा है, 'शमशेर भाई पर इतना विश्वस्त और समग्र अंक निकालने के लिए 'सापेक्ष' परिवार के प्रति विनम्र आभार प्रकट करता हूं। मैं इस अंक की सारी सामग्री को अपने समय के छात्र के रूप में पढ़ रहा हूं। साथ में चार अंकों की सहयोग राशि भेज रहा हूं। स्वीकार करें।'

अन्याय, असमानता और अमानवीयता के खिलाफ वैचारिक बहस के लिए वे हमेशा तैयार रहते थे। सतना (मध्य प्रदेश) में 27 जनवरी, 2002 को 'कितने पाकिस्तान' पर गोष्ठी समाप्त हो जाने के बाद आयोजक संतोष खरे और प्रहलाद अग्रवाल गेस्ट हाउस तक कमलेश्वर को छोड़ने आए। उनके साथ-साथ 10-12 लोग और आ गए जो स्वयं को हिंदी साहित्य के गहरे अध्येता और मर्मज्ञ पाठक समझते थे। साथ आने वालों की कट्टरता और हठधर्मिता के कारण बातचीत ने बहस का रूप ले लिया। एक अलग माहौल बनता चला गया। बिना लाग लपेट के सवालों से सीधे जूझने का तेवर दोनों ओर था। बहस के दौरान अनेक लोग उग्र और उत्तेजित हुए, लेकिन तीव्र असहमति के बाद भी कमलेश्वर की आत्मीयता में कोई कमी नहीं आई। मैंने महसूस किया भाषा और विचार में दृढ़ता के बावजूद शालीनता और विनम्रता कमलेश्वर की अर्जित की हुई असली पूंजी है। उनकी अपूर्व ख्याति के पीछे संस्कृति और विचार से ओतप्रोत उनका कर्माकुल व्यक्तित्व था। कमलेश्वर

के अनूठे व्यक्तित्व में अद्वितीय है उनकी सहजता। जटिल और आरोप वाले प्रश्नों को सुनकर भी वे उत्तेजित नहीं होते और बहुत शांत भाव से अपने विचार व्यक्त करते हैं।

सतना में रेस्ट हाउस की अति सामान्य व्यवस्था देखकर बिड़ला सीमेंट फैक्ट्री के जनरल मैनेजर- ए. के. चौधरी ने 8-10 बार कमलेश्वरजी से अनुरोध किया कि हमारे गेस्ट हाउस में चलकर विश्राम कीजिए। भोजन के बाद कमलेश्वर के साथी प्रदीप मांडव सहित हम तीनों वहां पहुंचे। शानदार कमरे थे। एक कमरे में कमलेश्वर और प्रदीप मांडव को तथा दूसरे कमरे में मुझे अकेले ठहराया गया। सुबह मैं अपने कमरे में योगासन और प्राणायाम कर रहा था, तभी किसी ने दरवाजा खटखटाया। मैंने देखा, कमलेश्वरजी मुस्कुराते हुए खड़े हैं। मुझे योगासन करते देखकर वे बहुत प्रसन्न हो गए और पूछा, कौन-कौन से आसन करते हैं? मैंने कहा 'लगभग 40 आसन करता हूँ।' उन्होंने मुझे 'पश्चिमोत्तासन और 'मयूरासन' नाम के दो आसन करके दिखाने के लिए कहा। मैंने तत्काल दोनों आसन करके दिखाए। उन्होंने ताली बजाकर मेरा उत्साह बढ़ाया और कहा, महावीर आप ट्रिंक नहीं करते यह तो मैं जानता हूँ, लेकिन इस तरह अकेले में कठोर साधना करते हैं, यह नहीं जानता था। आपको 100 साल की लंबी उम्र मिलेगी। साहित्य के लिए आपके जैसा जुनून मैंने कम लोगों में देखा है। इसी क्रम में आधे घंटे तक 'कितने पाकिस्तान' पर मैं इंटरव्यू लेता रहा। लौटते समय एक हजार रुपए का एक नोट कमलेश्वरजी ने मेरी जेब में खिसका दिया। मैंने ना नुकुर की, उन्होंने कहा महावीरजी, 'सापेक्ष' के लिए मेरा छोटा सा सहयोग है। कबीर अंक के बाद उससे भी अधिक महत्वपूर्ण काम आपको करने हैं।

सुबह नाश्ते के समय मैनेजर चौधरी स्वयं पधारे। रसोइया सहित 2-3 लोग किचन में सेवा के लिए तत्पर रहे। दूध और कार्नफ्लेक्स, ब्रेड और बटर सहित कई प्रकार के फलों से बड़ी डाइनिंग टेबल सजी हुई थी। हम लोगों ने नाश्ता शुरू ही किया था कि गरमागरम चिल्ला और दूसरे व्यंजन बनकर आने लगे। साथ ही मिस्टर चौधरी अपने विद्यार्थी जीवन से जुड़ी हुई स्मृति और इस्लाम में लिखी कुछ महत्वपूर्ण बातें कमलेश्वरजी को बताने लगे। बातचीत करते हुए नाश्ता करने में लगभग आधे घंटे का समय लग गया। मैंने ध्यान दिया कमलेश्वरजी ने उत्सुकता दिखाते हुए उनकी बातें पूरे मनोयोग से सुनीं।

भाव विभोर कर देने वाली उनकी सहजता को बहुत नजदीक से जानने और समझने का सुयोग मुझे 12 जनवरी, 2003 को मिला। बख्शी सृजनपीठ भिलाई के अध्यक्ष सतीश जायसवाल के अनुरोध पर कार्यक्रम के बाद दूसरी सुबह चाय का समय खुली बातचीत के लिए तय किया गया। मैंने लगातार महसूस किया था, ज्ञान और गरिमा से गमकता उनका व्यक्तित्व आतंक पैदा नहीं करता वरन् स्नेह प्रवणता के साथ जिज्ञासुओं की शंकाओं का सरलतापूर्वक समाधान करता रहा। 'डनहिल' सिगरेट का पैकेट हाथ में लिए वे दो घंटे तक युवक-युवतियों के साथ खड़े रहे। आम नागरिकों और स्थानीय साहित्यकारों के प्रश्नों के उत्तर तल्लीनता के साथ देते रहे।

कुछ लोगों ने 'रजनीगंधा' फिल्म पर चर्चा की तो कमलेश्वर जी ने कहा, यह फिल्म मैंने बासु चटर्जी के लिए मन्नू भंडारी की कहानी पर लिखी। शक्ति सामंत के लिए 'अमानुष' और जे. ओमप्रकाश के लिए लिखी 'आंधी' फिल्म का भी अपने समय में बहुत क्रेज रहा। मैंने कमलेश्वरजी से पूछा, क्या इसी फिल्म के संबंध में प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी से चर्चा के बीच एक बार अपना परिचय



देते हुए कहा था, 'आई एम द सेम कमलेश्वर हू रोट आंधी'। कमलेश्वरजी ने एक निराले अंदाज में मुस्कुराते हुए अपनी स्वीकृति दी। चोपड़ाजी के लिए 'बर्निंग ट्रेन' और बासु चटर्जी के लिए लिखी फिल्म 'सारा आकाश' के संबंध में भी लगातार प्रश्न जारी रहे। कालेज की छात्राओं ने कमलेश्वरजी से पूछा, 'मौसम' और 'आंधी' जैसी फिल्में अब आप फिर से कब लिखेंगे?

एक छात्र ने पूछा, क्या आप धर्मवीर भारती को अपने से बड़ा संपादक मानते हैं। कमलेश्वर जी ने तत्काल कहा, निश्चित रूप से 'धर्मयुग' जैसी लोकप्रियता हिंदी जगत में किसी भी पत्रिका की नहीं रही और इसका पूरा श्रेय धर्मवीर भारती को है। अध्ययनशीलता, स्मरण शक्ति, कल्पनाशीलता और संपादकीय सूझ-बूझ में उन जैसा दूसरा नहीं हुआ। भारतीजी निश्चित रूप से मुझसे बड़े संपादक थे। वे प्रतिदिन मेरे घर आते और हमारी अम्मा के लिए पान के बीड़े लाते थे। अम्मा से आशीर्वाद लेकर हम दोनों रोज साथ-साथ कार्यालय जाते थे। कमलेश्वरजी अपनी मूल प्रवृत्ति प्रेम और आत्मीयता को वे आजीवन छोड़ नहीं पाए। यही कारण है कि पिछले 40 वर्षों से युवा पीढ़ी के बीच उनकी लोकप्रियता लगातार बढ़ती रही जो कि अब 27 जनवरी 2007 को उनके निधन के बाद भी यथावत बरकरार है।

इस बीच मौका पाकर त्रिलोकीनाथ क्षत्रिय ने कमलेश्वरजी को पुस्तक भेंट की और कहानीकार लोक बाबू ने उनसे अनेक प्रश्न पूछे?

कमलेश्वर एक ऐसे साहित्यकार और संपादक रहे हैं जिन्होंने अपनी कलम को किसी भी संस्थान या सत्ता के सम्मुख झुकने नहीं दिया। वैचारिक असहमति का प्रश्न जब भी सामने आया सिद्धांतों से समझौता कभी नहीं किया। त्यागपत्र देने या संस्थान से निकाल दिए जाने की मानसिक तैयारी हर क्षण उनके साथ होती थी। 'जार्ज पंचम की नाक' कहानी लिखने के कारण जब उनसे स्पष्टीकरण मांगा गया तो उन्होंने 1961 में दूरदर्शन से त्यागपत्र दे दिया।

दिसंबर 1965 में वे 'सारिका' के संपादक होकर बंबई पहुंचे थे। हिंदी पत्रिकाओं के इतिहास में 'धर्मयुग' के बाद 'सारिका' सर्वाधिक लोकप्रिय पत्रिका रही है। कमलेश्वर ने अपने इंटरव्यू में कहा है, "01 फरवरी 1978 को पूरे कार्यालय के साथ दिल्ली पहुंचने के लिए कहा गया। मैंने दिल्ली जाने के बदले 'सारिका' से इस्तीफा दे दिया।

सच तो यह है कि राजनैतिक कारणों से मुझे यह नौकरी छोड़नी पड़ी। 'यह वह समय था जब जनसंघ के लोग जनता पार्टी में मिल गए थे। और लालकृष्ण आडवाणी को सूचना प्रसारण मंत्री बनाया गया था। उनके संकेत पर ही 'सारिका' के समूचे कार्यालय को बंबई से दिल्ली बुलवाया गया था लेकिन कमलेश्वर ने दिल्ली जाना स्वीकार नहीं किया और त्यागपत्र दे दिया। बुद्धि का पराक्रम और प्रत्युत्पन्नमति का कमाल उनके द्वारा संपादित 'सारिका' के अंतिम अंक में नजर आया, जब उन्होंने 'सारिका' के पूरे संपादकीय पृष्ठ को काले रंग में छापकर आपातकाल का विरोध किया था और नीचे अपना चिरपरिचित हस्ताक्षर किया था। इसी प्रकार 1975 में दलित सम्मेलन में जब वे भाषण देने मंच पर चढ़े, तो पत्थर फेंककर धमकी दी गई। कमलेश्वर नहीं डरे और माइक के सामने आकर उन्होंने अपने विचार व्यक्त किए।

'सारिका' से त्यागपत्र देने के बाद सर्जनात्मक हस्तक्षेप (मीडिया, पत्रकारिता, साहित्य, संस्कृति) की नई इमारत गढ़ते हुए कमलेश्वर ने मुंबई में सफलतापूर्वक 100 फिल्में लिखीं और फिर उसका



मोह छोड़कर वापस पत्रकारिता तथा साहित्य की दुनिया में लौट आए। दूरदर्शन के अतिरिक्त महानिदेशक बनाए गए। 'सीरियल्स' के लिए लगातार लिखते रहे और इतना सब करते हुए जनवरी 2000 में कितने पाकिस्तान' जैसा उपन्यास लिखकर एक मिसाल कायम कर दी। अपनी शर्तों पर जिंदगी जीने के इसी अंदाज ने उन्हें कलम की दुनिया का बेताज बादशाह बनाया।

साफगोई उनकी रग-रग में प्रवाहित थी। हर स्तर पर संस्थागत कट्टरता का विरोध करने वाले कमलेश्वर ने मनुष्य के हाथों मनुष्य के शोषण को कभी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने पत्रकारिता को सिर्फ साहित्यिक स्तर ही नहीं प्रदान नहीं किया बल्कि समय-समय पर पत्रकारों के अधिकारों के लिए आवाज भी उठाई। सहयोग की भावना से न जाने कितने बेरोजगारों को नौकरी दिलावाई। अपने आत्मसम्मान और सिद्धांतों की रक्षा के लिए उन्होंने न जाने कितनी बार नौकरी छोड़ी? न्यायसंगत मूल्यों के लिए संघर्ष उनके जीवट व्यक्तित्व का अपरिहार्य हिस्सा था। विदेश यात्रा का अनुभव सुनाते हुए एक बार उन्होंने बताया 'ईरान से लौटते समय कई-कई लोग अंगुलियों में चार-चार अंगूठियां पहनकर आए, क्योंकि ईरान में सोना बहुत सस्ता है। कमलेश्वर ने एक भी अंगूठी नहीं पहनी थी। सहयात्रियों ने पूछा तो कमलेश्वर ने कहा, मेरी अंगुलियां हीरे की हैं मैं इनमें सोना क्यों पहनूंगा।' सच तो यह है कि अलंकरणों से बड़ा कद उनकी अंगुलियों का था जिनसे वे लिखते थे। अपनी इन अंगुलियों पर उन्हें गजब का फक्र था।

तथ्यपरक कहानी, उपन्यास, फिल्म, दूरदर्शन, पुरस्कार, आलोचना, साहित्य, संस्कृति, मीडिया, दलित विमर्श, स्त्री विमर्श, नाटक, इतिहास, लोक संस्कृति, विभाजन की त्रासदी, सांप्रदायिकता, परिवार, घर, समाज और आतंकवाद सहित अनेक विषयों पर अलग-अलग इंटरव्यू मैंने उनसे किए हैं। संवेदनशील ही नहीं सतत चिंतनशील रहे कमलेश्वर से धर्म और ईश्वर पर मैंने लगातार बातचीत की है।

ऊर्जा से भरे-पूरे कमलेश्वर का दायरा बहुत व्यापक था। कलम के धनी कमलेश्वर के पत्रों का एक जादुई संसार अलग था। अपने पत्रों के माध्यम से उन्होंने अपने लिए एक विराट मगर आत्मीय संसार की सर्जना की थी, जिसमें वे रचते-बसते थे। पत्र कैसे लिखे जाने चाहिए? कब और कहाँ लिखें? भाषा और विषयवस्तु का संतुलन कैसा हो, यह सब देखते ही बनता था। अपनेपन की ऊष्मा से ओतप्रोत उनके पत्र आज भी हिम्मत बंधाते हैं, धीरज बंधाते हैं। मेट्रो सिटी के रहवासी होकर भी कमलेश्वर का निरंतर विकासशील व्यक्तित्व मैनपुरी गांव की धूल भरी गलियों से कभी अलग नहीं हो सका। अपनी जमीन और जड़ों को वे खूब याद करते थे।

सांप्रदायिक सौहार्द्र के प्रश्नों पर उनके जैसी प्रखरता के साथ लिखने और बोलने वाले कम हैं। सभा में कैसा भी प्रतिद्वंद्वी दिग्गज बैठा हो लेकिन वहां भी वे अपने को अत्यंत सहज महसूस करते हैं। बौद्धिक चेतना के निर्माण में, पाखंड और अनैतिकता पर प्रहार करने में उनकी अग्रणी भूमिका निर्भीकता की मिसाल है। हरिशंकर परसाई के बाद उनके जैसा कोई नजर नहीं आता। साम्राज्यवाद विरोधी महान बुद्धिजीवियों की परंपरा को अपनी विचारधारात्मक दृष्टि से उन्होंने लगातार आगे बढ़ाया। सभ्यता, संस्कृति के साथ जीवन के प्रत्येक पहलू पर पूरे अधिकार के साथ लिखने वाले कमलेश्वर की पैनी निगाह समाज के बदलते नित नए स्वर पर रहती थी। उनके मौलिक चिंतन ने अपनी कुशाग्रता के बल पर अपनी एक अलग पहचान बनाई। हमारे समय के महत्त्वपूर्ण विचारक और चिंतक ने यह सब उन्होंने बहुत खामोशी के साथ किया है। जातीय परंपरा का ज्ञान और उसके प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाले कमलेश्वर को अहर्निश ज्ञान की भूख अपडेटेड रखती

थी। सर्जनात्मक विविधता की दृष्टि से सभी विधाओं में उनकी कलम ने रचनाधर्मिता का नया आकाश रचा है। उन्होंने अपनी प्रतिभा, परिश्रम और पुरुषार्थ के बल पर रचना का एक बड़ा और रंग-बिरंगा संसार रचा। सत्तर से अधिक पुस्तकों और सात दशकों में फैला उनका जीवन आने वाली पीढ़ी के लिए प्रकाश स्तंभ है। दैनिक भास्कर में प्रति सप्ताह अपने समय पर बेबाक टिप्पणी लिखना बताता था कि उनका ज्ञान भंडार कितना है? उनके वक्तव्य, उनकी कहानियां और हर सप्ताह छपने वाले उनके लेख नई पीढ़ी को संस्कारित करते चलते हैं। उनकी उपलब्धियां उनके कर्मठ जीवन के प्रतिफल हैं। परंपरा और आधुनिकता पर, विचार और दर्शन पर उनका दिमाग खुला हुआ और दृष्टि साफ थी। भारत की अस्मिता, शक्ति व संप्रभुता का अनंत ऊर्जा और क्षमता का प्रामाणिक दस्तावेज है उनका लेखन। साहस और ईमानदारी उनके लेखन की बुनियाद है। इसी बुनियाद पर जगमगाता खड़ा है उनका समूचा साहित्य शिखर।

मुंबई, भोपाल, सतना, छिंदवाड़ा, जबलपुर, इलाहाबाद, दुर्ग, भिलाई और दिल्ली जहां भी मिलते हैं कमलेश्वर हमेशा मुस्कराते हुए मिलते थे। पिछले 30 वर्षों से हमारे छत्तीसगढ़ (दुर्ग, भिलाई, रायपुर, खैरागढ़ और बिलासपुर) में साहित्य बिरादरी के जितने भी लोग आ रहे हैं, सबके व्यवहार में गजब की गर्माहट होती है। उनसे गले मिलते ही मुझे भरत मिलाप के दृश्य याद आ जाते हैं। भोपाल और दिल्ली जाने पर कमांडर कमला प्रसाद और 'पहल' के संपादक ज्ञानरंजन को छोड़कर जितनी गर्मजोशी से कथाकार कमलेश्वर मिलते हैं कोई कलमकार नहीं मिलता। दिल्ली उनके घर तो कम ही जाना हुआ है, लेकिन जब भी गया हूं, उनकी सहजता, उनका प्रेम, उनका, और उनकी सदाशयता ने मुझे अभिभूत किया है। गायत्री भाभी ने पूरियां अथवा 2-3 प्रकार की मिठाइयां जरूर खिलाई हैं। साहित्यिक गुटबंदी और व्यक्तिगत राग-द्वेष से ऊपर उठते हुए कमलेश्वर का एक नया रूप मैंने 24 दिसंबर 2003 को उस समय देखा जब साहित्य अकादेमी पुरस्कार की घोषणा हुई। उस दिन मैं दिल्ली में था। साहित्य अकादेमी पुरस्कार के लिए मैंने कमलेश्वरजी को हाथ मिलाकर बधाई दी। एक पत्रकार ने उनसे पूछा यह पुरस्कार आपको बहुत विलंब से मिल रहा है। कमलेश्वरजी ने शालीनतापूर्वक उत्तर देते हुए कहा, अब इस अवसर पर मेरा कुछ कहना क्षुद्रता होगी। आइए साहित्य और समाज की बेहतरी के लिए कुछ अच्छी बातें करते हैं।

कमलेश्वर की विपुल रचनात्मकता ने हिंदी साहित्य को लगातार समृद्ध और गौरवान्वित किया है। तीन-तीन पीढ़ियां उनके लेखन पर सम्मोहित होती रहीं। पचहत्तर वर्ष की पकी उम्र में भी उनकी रचनात्मकता की गति और सक्रियता लाजवाब थी। फिल्म और दूरदर्शन की चमक-दमक के बीच भी वे 'स्टार' नहीं 'इनसान' बने रहे। सामाजिक सरोकार से भरे-पूरे रहे ऐसे कमलेश्वर से मनुष्य की मूल आकांक्षा और मानव जाति के चिरपोषित स्वप्न पर जब भी चर्चा होती वे कहते थे 'बेहतर दुनिया रचने, नए सुखमय संसार के स्वप्न को साकार करने की मुहिम में हम अकेले नहीं हैं, कलम की पूरी बिरादरी हमारे साथ है।' अतीत और वर्तमान के धागे से भविष्य की राह बुनते हुए कमलेश्वर और उनके रचना संसार को जब भी देखता हूं तो जंगल में सूखे हुए उस तने की याद आती है जिस पर खिलता है अंगारों की तरह दहकता हुआ 'पलाश'। ●

## जन्मशती स्मरण

# प्रकृति और प्रेम के कवि नरेंद्र शर्मा

राजेंद्र उपाध्याय

पंडित नरेंद्र शर्मा का यह जन्म शताब्दी वर्ष है। पंडित नरेंद्र शर्मा छायावाद-प्रगतिवाद के संधियुगीन काव्यधारा के अग्रणी कवि हैं। उनकी लगभग साठ वर्षों की लंबी काव्य यात्रा नारी, प्रकृति, वैयक्तिकता-सामाजिकता, दर्शन और अध्यात्म के क्षितिजों का स्पर्श करती है। वे गीति शैली के कवि हैं। नरेंद्र शर्मा का जन्म 28 फरवरी, 1913 को हुआ था एवं निधन 11 फरवरी, 1989 को हुआ। भले ही उनकी आरंभिक कविताओं में छायावादी संस्पर्श हैं, परंतु उत्तरोत्तर उनकी कविता का स्वर भिन्न मुहावरा गढ़ने लगता है। उनकी कविताओं में जहां प्रारंभ में व्यक्तिवादी प्रवृत्तियां मिलती हैं, वहीं इनमें सामाजिकता की धारा भी निरंतर विद्यमान रही है। व्यक्तिवादी और सामाजिक प्रवृत्तियों का द्वंद्व उनकी कविता को विशिष्टता प्रदान करता है।

नरेंद्र शर्मा की काव्ययात्रा को प्रवृत्ति के आधार पर नहीं समझा जा सकता। उनकी कविता अनेक प्रकार की बेचैनियों से भरी हुई कविता है। वे जिस सांस में आकुल अंतर के प्रेम की कविता लिखते हैं- उसी सांस में राजनीतिक या अध्यात्म-प्रेरित कविताएं भी लिख लेते हैं। उनकी दृष्टि में यही राष्ट्रीय-सांस्कृतिक यथार्थचेतना संपन्न समग्र जीवन है। इसे उन्होंने अपने गीतों-कविताओं, प्रबंध काव्यों, कहानियों, फिल्मों, धारावाहिकों में सर्वत्र वाणी दी है। उनके रचनाकर्म में मानवजीवन के प्रति निष्ठा और अनुभूति की गहराई प्रायः सब जगह पाई जाती है। इस सबका भाव परवर्ती हिंदी कविता पर भी पड़ा है और यही कवि नरेंद्र शर्मा की उपलब्धि है।

‘अभ्युदय’, ‘भारत’, ‘रूपाभ’ और ‘नया साहित्य’ पत्रिकाओं के संपादन से संबद्ध रहे नरेंद्र शर्मा की प्रकाशित कृतियों में पांच प्रबंध काव्य और तेरह कविता-संग्रहों के अलावा दो कहानी-संग्रह शामिल हैं। उन्होंने पचास से भी अधिक हिंदी फिल्मों के लिए गीत-रचना की तथा लोकप्रिय दूरदर्शन धारावाहिक ‘महाभारत’ के पठकथा-लेखक और गीतकार रहे हैं।

आकाशवाणी से अपनी संबद्धता के दौरान उन्होंने लोकप्रिय कार्यक्रम ‘विविध भारती’ की परिकल्पना की थी। उन्हें उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान के 1982 के कविवर पुरस्कार के अलावा अनेक पुरस्कारों सम्मानों से विभूषित किया गया था।

एक अच्छे कवि होने के कारण उन्होंने हिंदी साहित्य की तो सेवा की ही, आकाशवाणी के लिए भी उन्होंने अथक परिश्रम किया और उसे ऊंचाईयों पर पहुंचाया। आकाशवाणी के कई लोकप्रिय कार्यक्रम उन्हीं की देन है।

उनकी एक प्रसिद्ध प्रेम कविता है :

### बटन होल में

तुम्हें याद है क्या उस दिन की,  
नए कोट के बटन-होल में  
हँसकर, प्रिये, लगा दी थी जब  
वह गुलाब की लाल कली?

फिर कुछ शरमाकर, साहस कर,  
बोली थी तुम, इसको यों ही  
खेल समझकर फेंक न देना  
है यह प्रेम-भेंट पहली,

कुसुम-कली वह कब की सूखी,  
फटा ट्वीड का नया कोट भी,  
किंतु बसी है सुरभि हृदय में  
जो उस कलिका से निकली।

शायद इसी कविता की पढ़कर प्रसिद्ध कवि शमशेर बहादुर सिंह ने लिखा :

‘जिस घरेलू स्वाभाविक सरलता के साथ नरेंद्र ने प्रेम, मिलन और विरह की दुखती टीसों को मुखर किया है, वह निःसंदेह नरेंद्र शर्मा की हिंदी को एक अछूती देन है।’

-शमशेर बहादुर सिंह

उपर्युक्त कथन को कवि शमशेर बहादुर सिंह ने नरेंद्र शर्मा के काव्य में जिस घरेलू स्वाभाविक सरलता की चर्चा की है वह हिंदी कविता में इन दिनों दुर्लभ हो गई है। स्वाभाविक सरल कविता कोई नहीं लिखता, सब कठिन काव्य के प्रेत बने हुए हैं। प्रेम, मिलन और विरह की दुखती टीसों को मुखर करने वाले हिंदी में न तो कवि हैं और न कवयित्रियां। यह आम हिंदी युवा पाठक के लिए कितने दुःख की बात है, वह प्रेम, मिलन और विरह की दुखती टीसों को मुखर करने कहां जाए?

नरेंद्र की प्रारंभिक रचनाओं में युवा मन की अभिव्यक्तियां हैं जहां वे युवा नयनों से जीवन-जगत के सौंदर्य को, निजी सपनों और आशा-निराशाओं को अपने प्रेम की बैचेनी को अकुंठभाव से उभार सके हैं- मानवीय रागों की जीती-जागती और बोलती मूर्तियों के समान। इनमें न छद्म दार्शनिकता है न भद्रता का आवरण इसलिए नरेंद्र जल्दी ही युवा पीढ़ी के कंठहार बन गए। ‘विश्वविद्यालय के युवक-युवतियां उनके गीतों को ऐसे गुनगुनाते फिरते थे जैसे किसी मधुवन में मदमस्त भौरों की गुंजन डाल-डाल और पात-पात में मुखरित हो रही हो।’ ये कथन हैं- शिवमंगलसिंह ‘सुमन’ का। इनके समकालीन कथाकार मित्र अमृतलाल नागर ने भी कुछ ऐसा ही कहा है-- ‘सन् 36-37 के दिनों में नरेंद्र शर्मा के गीत गुनगुनाकरन हम लोग अपने नौजवान दिलों में प्यार और रोमांस की भावना को पोसा करते थे।’

जहां एक ओर कुछ कवियों में छायावाद की तलछट बची हुई थी, नरेंद्र शर्मा ने बहुत जल्दी ही सदियों पुराने आध्यात्मिक और रहस्यवाद-छायावाद के लबादे को उतार फेंका और युवा मन की आशा, निराशा, अवसाद को वाणी दी। 1932 में 19 वर्ष की आयु में प्रकाशित पहले काव्य संग्रह 'शूलफूल' को लोगों ने हाथोंहाथ लिया। 'शूलफूल' और 'कर्णफूल' की सब प्रतियां हाथोंहाथ बिक गईं। नरेंद्र ने सब वर्जनाएं तोड़ फेंकी। केदारनाथ अग्रवाल ने ठीक ही लिखा था कि- 'नरेंद्र की कविताओं और गीतों में रूप और प्रेम की अभिव्यक्ति होती थी और यह अभिव्यक्ति पूरी ताजगी के साथ बिना किसी वर्जना के, खुले शब्दों में वैसे ही खिल और खुल पड़ती थी जैसे सिर से पैर तक टेसू का पेड़ लहलहाकर खड़ा हो और देखने वाला उसे देखता ही रह जाए।'

सुमित्रानंदन पंत ने भी इन्हें 'किशोर प्रणय के आवेग' का कवि बताया। निजी प्रेमानुभूतियों को संकोचरहित ढंग से, हाड़मांस के सांसारिक प्रेम को अपनी कविताओं में निःसंकोच स्थान देने की जो परंपरा बाद के देह और गेह के कवियों (गिरिजा कुमार माथुर, अशोक वाजपेयी आदि ने) डाली-उसका सूत्रपात सबसे पहले पं. नरेंद्र शर्मा ने किया। अशरीरी और वायवीय प्रेम को लगभग देश निकाला देने का काम नरेंद्र शर्मा ने 1932-1934 में ही कर दिया था जबकि कई कवि उसी में उभ-चुभ कर रहे थे। नरेंद्र की इन कविताओं में इसीलिए इतनी नवीनता और ताजगी है।

कवि नरेंद्र शर्मा के साथ एक और अच्छी बात यह रही कि उनकी कविताओं के प्रशंसक न केवल आलोचक रहे बल्कि उनके दौर के लगभग सभी महत्वपूर्ण कवियों ने उनके ऊपर लिखा और वे उनके स्नेहभाजन रहे। पाठकों का भरपूर प्यार और सम्मान भी उन्हें मिला।

आम तौर पर आज कथाकार कवियों को नहीं पढ़ते, फिर भी नरेंद्र अपनी पीढ़ी के सब साहित्यकारों में समान रूप से लोकप्रिय रहे। कथाकार भगवतीचरण वर्मा से उन्हें प्रेरणा मिली और अमृत राय से भी उनकी निकटता रही। कथाकार अमृतलाल नागर उनके गीतों से प्रेरणा पाते थे और कथाकार राही मासूम रजा के साथ मिलकर-नरेंद्र शर्मा ने जो 'महाभारत' रचा वह जगजाहिर है। कथा और कविता में इसी दूरी को पाटने का काम नरेंद्र शर्मा ने किया, उसे आज अलग से याद करना जरूरी है क्योंकि आज इनमें लगभग दुश्मनी हो गई है। नई कविता के प्रबल पक्षधर अज्ञेय से उनकी दोस्ती तो जगजाहिर थी ही। दोनों इकट्ठे अल्मोड़ा में अपने अग्रज कवि सुमित्रानंदन पंत से मिलने जाया करते थे और अपने समय के ये तीनों गंभीर कवि आपस में हँसी-मजाक भी करते थे। 'स्मृतिलेखा' में अज्ञेयजी ने पंतजी के बहाने युवक नरेंद्र शर्मा का भी अच्छा खाका खींचा है-आम तौर पर हिंदी के गीतकारों-साहित्यकारों से दूर रहने वाले- उनसे बात तक न करने वाले अज्ञेय नरेंद्र शर्मा के संग साथ को अपना सौभाग्य मानते हैं- बल्कि वे पंतजी के साथ बात करने में उन्हें अड़चन नहीं मानते-बल्कि सहज और अनिवार्य मानते हैं। 'यह भी सौभाग्य की ही बात थी कि इन दिनों नरेंद्र शर्मा भी साथ रहे। पंतजी से सहज और निकट वार्तालाप तभी हो पाता था जब कोई तीसरा व्यक्ति भी उपस्थित हो-ऐसा तीसरा व्यक्ति जो उनका स्नेहभाजन हो। अल्मोड़े के उस प्रवास में इस तीसरे की उपस्थिति का काम नरेंद्र शर्मा करते रहे। कुछ स्मृतियां अल्मोड़े के विभिन्न सैरों की है जिनमें नरेंद्र साथ रहते थे।' नरेंद्र को पंत और अज्ञेय चिढ़ाते रहते थे। नरेंद्र के प्रति पंतजी के चिढ़ाने में भी वात्सल्य भाव ही अधिक रहता था और सूक्ष्म विनोद में नरेंद्र भी कम नहीं थे। नरेंद्र के विवाह को लेकर दोनों अग्रज कवि उनसे ठिठोली करते थे।

एक बार सिमतोला के चीड़ वनों में टहलते हुए अज्ञेय ने चीड़ की विभिन्न जातियों (आज के कितने कवियों को इन जातियों का पता है) का परिचय देते हुए बताया है कि अल्मोड़े में चीड़ की एक पत्ती में तीन सुईयां होती हैं, कभी-कभी प्रकृति के प्रमाद से चार भी हो जाती हैं, लेकिन चार सुईयों वाली पत्ती दुर्लभ होती है। अज्ञेय ने यह भी जोड़ दिया कि किसी को चार सुईयों वाली पत्ती मिल जाए तो वह सौभाग्य का सूचक होता है और उस व्यक्ति का एक वर्ष के भीतर ही विवाह हो जाता है। सैर करते हुए मैंने देखा कि बीच-बीच में नरेंद्र जहां-तहां से चीड़ की पत्ती उठाकर या पेड़ से नोंचकर देख रहे हैं कि इसमें सचमुच तीन ही सुईयां हैं या चार? मन ही मन मैंने कुछ पत्तियां उठाईं और नरेंद्र के अनेदेखे में उसमें एक अतिरिक्त सुई ऐसे कोंच दी कि वह पत्ती चार पत्ती की लगे। 'पंतजी आपके अल्मोड़े में चार सुईयों वाली पत्ती मिल गई।' पंतजी ने कहा- 'लो नरेंद्र तुम्हारा काम बन गया-अब वह पत्ती अपनी जेब में रखो और हम लोग इसी वर्ष निमंत्रण की प्रतीक्षा करेंगे। अब पता नहीं उस लोकविश्वास पर नरेंद्र को कितना प्रत्यय था लेकिन नरेंद्र ने पत्ती जेब में तो रख ही ली। अनंतर मैंने एक छोटी-सी गीतनुमा कविता नरेंद्र के लिए दी जिसकी टेक थी- 'मिली चीड़ की चतुः शलाका/मेरी अमा हो गई राका। यहां उनकी भावी पत्नी का 'धान' कविता देखी जा सकती है- 'लिए एक कर में गृह दीपक और दूसरे में मंगल/कौन अतिथि-सी आती मेरे उर के प्रतिपल अधिक सन्निकट।'

अज्ञेय नरेंद्रजी को प्रकृति का कवि मानते रहे-इसीलिए पंत की षष्टिपूर्ति पर 'रूपांबरा' नाम का जो अनुपम काव्यग्रंथ पंतजी को समर्पित किया गया उनमें नरेंद्र की अद्भुत प्रकृति कविताएं शामिल की -'गांव की धरती' 'देवली की सुबह' और 'रानी खेत की रात'। उनके विभिन्न कविता संग्रहों- 'मिट्टी और फूल' तथा 'पलाश-बन' से लेकर। आज 'रानीखेत की रात' जैसा अनुपम प्रकृति काव्य कोई नहीं लिखता। इस कविता में भी ध्यान से देखें तो प्रकृति और प्रेम का अद्भुत समन्वय है- यह एक साथ प्रकृति और प्रेम की कविता है- केवल निरीप्रकृति और प्रेम की नहीं है- 'इसमें यह खुला नभ, यह धुला नभ, खिल रही यह चांदनी अनमोल, यह अमृत की वृष्टि, खिलती कुमुदिनी-सी सृष्टि/दृग उर खेल' तो हैं ही-साथ ही, नील नभ ऊपर, हृदय ज्यों सह चुका आघात पर आघात' भी है। 'बालकों की बात-सी-आयी-गई सी हो गई है बात/नखत ज्यों आसू-पूछें दृग, चुप हुई चुपचाप रो-रो रात।' फिर आखिर में 'खुली कलियों से खुलेंगे ही हमारे मोह बंधन' भी है। कालीदास प्रकृति के चौखटे में मानवीय भावनाओं का चित्रण करते थे जबकि नरेंद्र शर्मा समकालीन मानवीय संवदेन के चौखटे में मानवीय भावनाओं का चित्रण करते थे। कूर्माचल की यात्रा के दौरान उनका प्रकृति से सीधे साहचर्य नवीन संबंधों को जन्म देता है। उन्होंने 'कौसानी' कविता भी लिखी जिसमें 'नई धरा, आकाश नया, यह नया लोक मिल गया, 'मुझे आता है।' प्रकृति उसे सच्ची शांति और ऊर्जा प्रदान करती है। वह प्रकृति-कूर्माचल के वन-पर्वत प्रांतों के बीच अपने द्वंद्वों से उबरने का प्रयास करता है। 'दाआब' में शमशेर ने ठीक लिखा है- 'कौसानी में उसकी शांति बल-प्राप्ति का एक उन्मुक्त उद्गार है, जिसमें यह कवि प्रकृति के प्रति कृतज्ञता से विभोर हो उठा है। इसी समय की और भी कविताएं हैं- 'अल्मोड़े की युवती' और 'रानीखेत की रात' जो झिलमिलाती रूपराशियां उसके हृदय का जलता हुआ दीपक बन गई हैं, उनकी प्रतिमाएं लगता है, इस शांति की खोज में भी उसके साथ-साथ है।' पंतजी का असर लोग कहते हैं कि नरेंद्र की कविता में है, हां,

था : और किंचित अब भी। उनकी सात्विक कोमलता की एक छाप।’

प्रकृति काव्य के सबसे बड़े कवि सुमित्रानंदन पंत ने नरेंद्र शर्मा के गीतों के विषय में कहा है- ‘प्रकृति संबंधी इन गीतों में कवि की प्रणयभावना उन्मुक्त उड़ानभर वियोग के सूनेपन को मुखरित करते हुए युवकों के हृदय में अपना उच्छ्वसित नीड़ बनाने में सफल हुई।’ नव कवि का अपना आधुनिक व्यक्तित्व है। उन्होंने 1937-38 में प्रेम और विरह से संबंधित जो गीत लिखे, वे अत्यंत लोकप्रिय हुए। भावप्रवणता और यौवनाकांक्षाओं से उद्वेलित इन गीतों में कवि का विषाद और निराशा उभरी है-

‘सांझ होते ही न जाने छा गई कैसी उदासी?  
क्या किसी की याद आई, ओ विरह व्याकुल प्रवासी?’

### लेखकों से अनुरोध

- ◆ वैचारिक, आलोचनात्मक लेख, कहानी, संस्मरण, डायरी, यात्रा वृत्तांत आदि अधिकतम 3000 शब्दों में ही प्रेषित करें।
- ◆ लेख के अंत में अपना नाम, पता, फोन, ई-मेल आदि का उल्लेख करें।
- ◆ भेजी गई सामग्री स्पष्ट एवं पठनीय हो तथा पन्ने के एक तरफ लिखी गयी हो। बेहतर होगा कि लेख यूनिकोड/मंगल फांट में ही टाइप कराकर भेजें।
- ◆ चित्र एवं अन्य कॉपीराइट-सुरक्षित सामग्री के संदर्भ में : लेख में उपयोग हेतु आवश्यक अनुमति लेना लेखक का उत्तरदायित्व होगा।
- ◆ रचनाओं की स्वीकृति व अस्वीकृति की सूचना एक माह के अंदर दे दी जाएगी। रचनाओं की वापसी के लिए लिफाफा संलग्न करें।
- ◆ लेख के साथ भेजे गए पत्र में इस बात का उल्लेख अवश्य हो कि यह लेखक की मौलिक, अप्रकाशित और अप्रसारित रचना है तथा इसको प्रकाशन हेतु अन्यत्र नहीं भेजा गया है।

आप लेख [bahuvachan.wardha@gmail.com](mailto:bahuvachan.wardha@gmail.com), [amishrafaiz@gmail.com](mailto:amishrafaiz@gmail.com) पर ई-मेल कर सकते हैं अथवा रजिस्ट्रीकृत डाक/स्पीड पोस्ट से निम्न पते पर भेज सकते हैं-

**संपादक**

बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)

मो. नं.- 09422386554

# हजारी प्रसाद द्विवेदी के व्यक्तिव्यंजक निबंध

अवधेश प्रधान

आचार्य शुक्ल ने निबंध को गद्य की कसौटी कहा था। मानते थे कि 'भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक संभव है।' इसमें लेखक की व्यक्तिगत विशेषता को अभिव्यक्त करने का अवसर सबसे अधिक रहता है- विशेषतः उस प्रकार के निबंध में जिसे व्यक्तिव्यंजक या व्यक्तित्वव्यंजक निबंध कहते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी व्यक्तिव्यंजक निबंध को 'व्यक्ति की स्वाधीनता चिंता की उपज' मानते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के व्यक्तिव्यंजक निबंध भारतेंदुयुग और द्विवेदीयुग के निबंधों से तो भिन्न हैं ही, आचार्य शुक्ल के प्रसिद्ध 'चिंतामणि' के निबंधों से भी भिन्न हैं। दोनों के निबंध दो व्यक्तित्वों का आभास देते हैं, वे दो व्यक्तियों की 'स्वाधीन चिंता की उपज' हैं। द्विवेदीजी ने न तो अपने पूर्ववर्ती भारतेंदु-प्रतापनारायण-बालमुकुंद गुप्त की निबंध कला का अनुकरण किया, न गुलेरीजी और पूर्ण सिंह की निबंध कला का। उन्होंने अपने लिए अपना सांचा अलग बनाया। उन्होंने अपने लिए अपना सांचा अलग बनाया। उन्होंने निबंध की विशेषता ही यह बताई कि 'इस क्षेत्र में अनुकरण नहीं चल सकता, क्योंकि कोई भी दो व्यक्ति हू-ब-हू एक ही रुचि और संस्कार के नहीं होते।' शुक्ल जी से उनके निबंध भिन्न हैं क्योंकि दोनों की रुचि और संस्कार में भिन्नता है। यद्यपि द्विवेदीजी की निबंध-शैली का सबसे अधिक अनुकरण हुआ, फिर भी उनके अनुकर्ताओं के निबंधों में भी उनकी 'व्यक्तिगत स्वाधीन चिंता' ही 'व्यक्तिगत विशेषता' को जन्म देती है। व्यक्तिव्यंजक निबंध की यह 'विशेषता' उसे रोमांटिक भाव-बोध से जोड़ देती है।

यहीं यह प्रश्न भी विचारणीय है कि भारतेंदुयुग में नाटक के साथ निबंध का विकास कहीं उस युग की नवजागरणोचित रोमांटिक मनोवृत्ति की ओर तो संकेत नहीं कर रहा है? क्या यह मनोवृत्ति छायावाद में अचानक उभर आई या उसके बीज भारतेंदु युग में ही अंकुरित होने लगे थे जब नवजागरणकालीन स्वाधीनता की चेतना का भी अरुणोदय होने लगा था। कविता और नाटक की तो खैर पुरानी परंपरा थी, लेकिन निबंध तो उस युग की अपनी खास उपज है, क्या यह उस युग के 'व्यक्ति की स्वाधीन चिंता की उपज' ही नहीं है? यह पहले कविता की तुलना में गद्य के ही माध्यम से, विशेषतः निबंध के माध्यम से व्यक्त हुई तो क्या? इसे भी भारतीय रोमांटिक उत्थान की विशेषता



मान लेना चाहिए। कम से कम हिंदी में तो भारतेंदु युगीन रोमांटिक उत्थान की अभिव्यक्ति मौलिक रूप से निबंधों में ही हुई।

हिंदी के व्यक्तिव्यंजक निबंधों की एक जातीय विशेषता विशेष रूप से लक्ष्य करने की है कि उनमें अंग्रेजी के निबंधों की एकांतिक वैयक्तिकता के विपरीत सामाजिक सजीवता पाई जाती है। भारतेंदु युग के निबंधों में आचार्य शुक्ल ने इसे विशेष रूप से रेखांकित किया था और लिखा था कि मेलों-ठेलों, तीज-त्यौहारों पर लिखे उनके निबंधों में- 'जनता के जीवन का रंग' पूरा-पूरा पाया जाता है। द्वितीय उत्थान के निबंधकारों से वे कुछ निराश-से थे, पर सामाजिक सजीवता का अभाव वहां भी नहीं है। रायकृष्ण दास, वियोगी हरि आदि के काव्यात्मक गद्य प्रबंधों या गद्य गीतों को छोड़ दें तो बाकी सब जगह सामाजिकता का संबंध कुछ न कुछ जरूर पाया जाता है। शुक्लजी ने अपने मनोविकार संबंधी निबंधों में भी सामाजिक जीवन से संबंध बराबर बनाए रखा है और मन की अतल गहराइयों में डूब जाने के बजाए सामाजिक संबंधों की व्याख्या की है। उन्होंने बुद्धि के विचार पक्ष के साथ हृदय के भाव पक्ष का भी संतुलन रखा है। यह भी कह सकते हैं कि उनके निबंधों में द्विवेदीजी के निबंधों की तुलना में विचारपरकता अधिक है और द्विवेदीजी के निबंधों में उनके निबंधों की तुलना में भावपरकता अधिक है। द्विवेदीजी के निबंधों का उद्देश्य है 'हृदय की अनुभूतियों को व्यापक और संवेदनाओं को तीक्ष्ण बनाना।' उनके व्यक्तिव्यंजक निबंध इस कसौटी पर खरे उतरते हैं। उनका स्पष्ट विचार है, 'जो लेख हमारे हृदय की अनुभूतियों को व्यापक और संवेदनाओं को तीक्ष्ण नहीं बनाता वह अपने उद्देश्य में च्युत हो जाता है।' रमेशचंद्र शाह ने लिखा है कि द्विवेदीजी के निबंध उस अर्थ में पर्सनल नहीं हैं जिस अर्थ में लैम्ब ना मान्तेन के निबंध क्योंकि उनमें अहं का उद्रेक नहीं, विलय है। उनका अहं किसी बड़ी सत्ता, बहुत बड़ी शक्ति के प्रति समर्पित है। इसी प्रकार उनके निबंधों की आत्मीयता को लैम्ब या मान्तेन से अलग करते हुए रमेशचंद्र शाह ने बहुत सही लक्ष्य किया था कि 'द्विवेदीजी की आत्मीयता विषय के साथ है, पाठक के साथ नहीं। गरज कि उनके निबंधों का अंदाजे-बयां उनका अपना है।'

द्विवेदीजी के निबंधों का शीर्षक देखते ही यह आभास होता है कि ये फूल-पौधों पर या मौसम पर लिखे गए हैं। तो क्या ये निबंध प्रकृति चित्रण के लिए हैं? अपने निबंधों को समझने की कुंजी द्विवेदीजी ने 'शिरीष के फूल' में दे दी हैं, जब वह कहते हैं, 'फूल हो या पेड़, वह अपने आप में समाप्त नहीं होता। वह किसी अन्य वस्तु को दिखाने के लिए उठी हुई उंगली है। वह इशारा है।' स्पष्ट है, अशोक हो या कुटज, आम हो, देवदारु या शिरीष हो, वह 'किसी अन्य वस्तु' को दिखाने के लिए संकेत-मात्र है। वह 'अन्य वस्तु' भारतीय संस्कृति की मीमांसा भी हो सकती है, मनुष्य की जीवनी शक्ति का आख्यान भी हो सकता है, मानव सभ्यता की नियति को लेकर कोई चिंता भी हो सकती है। द्विवेदीजी ने मेले पर भी लिखा है लेकिन केवल उसकी हँसी-खुशी मनाने के लिए नहीं, वरन् यह याद दिलाने के लिए कि मेरे बहुधा-विभक्त मनुष्य की मिलन भूमि प्रशस्त करते हैं। वसंत की सबसे अधिक उछाह से अगवानी आधुनिक कवियों में निराला ने की है तो निबंधकारों में द्विवेदीजी ने लेकिन उसकी तान भी यहां टूटती है कि वसंत आता नहीं, लाया जाता है। इसका मतलब यह नहीं कि उनके निबंध कुछ उपदेशात्मक हैं। वे ऐसी उत्कृष्ट कलात्मक सृष्टि हैं कि उनमें संस्कृति-समीक्षा, जीवनदृष्टि, इतिहास-रस, सौंदर्य बोध सब एक साथ संगुम्फित है। किसी-किसी

की कविता भी शक्तिहीन उपदेश का कथन हो सकती है पर द्विवेदीजी के निबंध तो शक्ति और सौंदर्य का आख्यान हैं। वे ब्रिटिश राज के दमन, अकाल, हिंसा और विश्वयुद्ध के विध्वंस के बावजूद मनुष्य की अपराजेय शक्ति का जयघोष करते हैं। छायावाद शक्ति की काव्यकला को दर्शाता है तो द्विवेदीजी का निबंध-साहित्य शक्ति की गद्य कला को। वह हिंदी निबंध के इतिहास में स्वच्छंदतावाद का विजय लेख है। स्वच्छंदता की शक्ति का कलात्मक विस्फोट गद्य में देखना हो तो रायकृष्णदास के गद्य काव्य को नहीं, द्विवेदीजी के व्यक्तिव्यंजक निबंधों को देखिए। रवींद्रनाथ का प्रभाव दोनों पर है लेकिन उस प्रभाव का एक रूप 'साधना' और 'छायापथ' है तो दूसरा रूप 'अशोक के फूल' और 'कुटज' है।

'अशोक के फूल' द्विवेदीजी का बीज निबंध है, उसी से उनके सभी निबंध निकलते-से लगते हैं। जीवन की जययात्रा, जीवनी शक्ति का दुर्दम अभियान, जिजीविषा, महाकाल का कुण्ठनृत्य द्विवेदीजी के ये शब्द-गुच्छ पहली बार इसी निबंध में दिखाई देते हैं। 'अशोक के फूल' की 'अन्य वस्तु' का संकेत बहुत कुछ उन शब्द-गुच्छों से हो जाता है। रवींद्रनाथ की एक कविता है- 'भारततीर्थ' जिसमें उन्होंने भारत को महामानव का समुद्र कहा है। 'अशोक के फूल' मानो इसी कविता का भाष्यांतर है। भारतीय संस्कृति आर्य, अनार्य, असुर, गंधर्व आदि नाना उपादानों से बनी है। उनके देवता, पूजोपकरण, पूजापद्धति, रीति-रस्म सब मिलकर एक हो गए हैं। अशोक का फूल भारतीय साहित्य में गंधर्व जाति की देन है। जब शुद्ध आर्य रक्त का हिटलरी उन्माद लाखों यहूदियों की बलि लेकर भी संतुष्ट न हो रहा हो तब द्विवेदीजी की इन पंक्तियों ने कितनी क्रांतिकारी भूमिका निभाई, 'देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है। सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की जिजीविषा।' द्विवेदीजी का यह प्रगतिशील संस्कृति-बोध उनकी गतिशील इतिहास-दृष्टि का परिणाम है। जो मनुष्य की जीवनी शक्ति को समर्थ बनाता है, इतिहास की धारा उसे संजो लेती है, बाकी को बहा ले जाती है। द्विवेदी जी के इतिहास के निर्मम प्रवाह में एक नियम काम करता है, उसका ओजस्वी घोषणा पत्र इन शब्दों में अंकित किया है, 'मुझे मानव जाति की दुर्दम-निर्मम धारा के हजारों वर्षों का रूप साफ दिखाई दे रहा है। मनुष्य की जीवनी शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती-बहाती यह जीवनधारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्य ने नई शक्ति पाई है। हमारे सामने समाज का आज जो रूप है वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का फल है।' द्विवेदीजी सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों के कलेजे से चिपटाए रखने के हिमायती नहीं। उन्होंने परंपरा को आधुनिक दृष्टि से देखा है। इसलिए उनका विश्वास है कि 'महाकाल के प्रत्येक पदाघात में धरती धसकेगी। उसके कुंठनृत्य की प्रत्येक चारिका कुछ न कुछ लपेट कर ले जाएगी। सब बदलेगा, सब विकृत होगा-सब नवीन बनेगा।' द्विवेदीजी के समग्र साहित्य को समझने की कुंजी 'अशोक के फूल' में है।

'आम फिर बौरा गए' में 'अशोक के फूल' के ही संस्कृति-बोध का पुनराख्यान है। बस इसके पीछे देश विभाजन के समय की हिंसा, मारकाट, लूट-पाट, दंगा और आगजनी का संदर्भ नया है। द्विवेदीजी आर्यों के साथ असुरों, दानवों, दैत्यों के संघर्ष को याद करते हैं कि संघर्ष समाप्त होने के बाद आर्यों ने असुरों के देवताओं, आचारों और विश्वासों को श्रद्धा से अपना लिया; यह 'मनुष्य की

अद्भुत विजययात्रा' थी। इतिहास की गति के इस नियम के ही कारण द्विवेदीजी को अटल विश्वास है कि मनुष्य दंगों की आग से भी बाहर निकल जाएगा और एक दूसरे से मिलेगा, 'आज इस देश में हिंदू व मुसलमान इसी प्रकार लज्जाजनक संघर्ष में व्याप्त हैं। बच्चों और स्त्रियों को मार डालना, चलती गाड़ी से फेंक देना, मनोहर घरों में आग लगा देना मामूली बातें हो गई हैं। मेरा मन कहता है कि ये सब बातें भुला दी जाएंगी। दोनों दलों की अच्छी बातें ले ली जाएंगी, बुरी बातें छोड़ दी जाएंगी।' मनुष्य की नियति में दृढ़ विश्वास उनके सम्यक् इतिहास-बोध का ही परिणाम है।

'आम फिर बौरा गए' में जो संघर्ष की धार है वह 'शिरीष के फूल' में भी मौजूद है। निबंध की शुरुआत ही एक तीखे संघर्ष चित्र से होती है, 'जेठ की तपती धूप में, जब कि धरित्री निर्धूम अग्निकुंड बनी हुई थी, शिरीष नीचे से ऊपर तक फूलों से लद गया था।' कालिदास के साहित्य में शिरीष के प्रसंग अशोक से कुछ घटकर नहीं हैं, द्विवेदीजी चाहते तो शिरीष के सौंदर्य चित्रों की कलादीर्घा ही सजा देते लेकिन इस निबंध में उनका ध्यान शिरीष की 'सुषमा' की ओर कम, 'संघर्ष' की ओर ज्यादा है। वह सुकुमारता से अधिक 'जीवन की अजेयता' का मंत्र घोष करता है। यहां से द्विवेदीजी के निबंधों में एक नया बिंब शुरू होता है, वह है, 'अवधूत' का। 'अशोक के फूल' में 'महाकाल' थे, 'शिरीष के फूल' में अवधूत हैं। महाकाल इतिहास की गति को दर्शाते हैं, अवधूत संघर्ष की फक्कड़पन मस्ती को। शिरीष एक अवधूत है क्योंकि दुःख हो या सुख, वह हार नहीं मानता-सुखम् वा यदि वा दुःखम्। सुख और दुःख में स्थिर रहना-यह एक नया सुर है जो द्विवेदीजी के निबंधों में केवल 'शिरीष के फूल' और 'कुटज' में मौजूद है। 'आम फिर बौरा गए' का सामयिक संदर्भ इसमें भी आता है जब द्विवेदीजी देश विभाजन के वात्याचक्र के भीतर भी स्थिर रह सकने वाले गांधीजी की याद दिलाते हैं, 'हमारे देश के ऊपर से जो यह मारकाट, अग्निदाह, लूटपाट, खून-खच्चर का बवंडर बह गया है उसके भीतर भी क्या स्थिर रहा जा सकता है? शिरीष रह सका है। अपने देश का एक बूढ़ा रह सका था।' यह शिरीषधर्मा, बूढ़ा अवधूत गांधीजी हैं। निबंध का मार्मिक अंत इस प्रकार होता है- 'मैं जब-जब शिरीष की ओर देखता हूं तब-तब हूक उठती है- हाय, वह अवधूत आज कहाँ है?' यह निबंध गांधीजी की हत्या से उठने वाली हूक से समाप्त होता है।

संघर्ष में शिरीष का सगोतिया है 'कुटज' लेकिन इसमें द्विवेदीजी की 'निज मन की दिशा, भी शामिल है। शिवालिक की सूखी-काली चट्टानों में कुटज को फूलों से लदे हँसते-मुस्कराते देख वे बेसाख्ता कह उठते हैं- गाढ़े के साथी! उजाड़ के साथी! अशोक, शिरीष, देवदारु विवेचन का विषय हैं लेकिन कुटज लेखक का साथी है। उसने केवल विरही यक्ष के संतप्त हृदय को ही नहीं, बी.एच. यू. से बहिष्कृत द्विवेदीजी के भी संतप्त हृदय को सहारा दिया था। उसने लेखक के थके हारे मन को अपराजेय जीवनी शक्ति की प्रेरणा दी थी : वह लू में 'हरा है और भरा भी है'। 'दुर्जन के चित्र से भी अधिक कठोर पाषाण की कारा में रुद्ध अज्ञात जलस्त्रोत से बरबस रस खींचकर सरस बना हुआ है और मूर्ख के मस्तिष्क से भी अधिक सूने गिरिकांतार में भी ऐसा मस्त बना है कि ईर्ष्या होती है। कितनी कठिन जीवनी शक्ति है! प्राण ही प्राण को पुलकित करता है, जीवनी शक्ति ही जीवनी शक्ति को प्रेरणा देती है' इस अंश में प्रेरणा के स्त्रोत तो स्पष्ट हैं ही, 'दुर्जन के चित्त' और 'मूर्ख के मस्तिष्क' से द्विवेदीजी की पीड़ा के स्त्रोत का भी आभास मिलता है। जिस जिजीविषा का जयगान करते द्विवेदीजी थकते नहीं, उसी पर पहली बार इस निबंध में सवाल उठाते हैं 'भीतर की

जिजीविषा-जीते रहने की प्रचंड इच्छा' उन्हें अपर्याप्त लगने लगती है, उन्हें लगता है कि यह कोई बड़ी बात नहीं है, 'जिजीविषा से भी प्रचंड कोई न कोई शक्ति अवश्य है।' वह क्या है जो मनुष्य को जिजीविषा या इच्छा शक्ति के स्तर से ऊपर उठाता है, व्यक्तिगत सुख और दुःख की सीमा से ऊपर उठाता है, वह है सर्वात्मबोध से 'स्व' का 'सर्व' के लिए त्याग, 'अपने में सब और सबमें आप इस प्रकार की एक समष्टिबुद्धि जब तक नहीं आती तब तक पूर्ण सुख का आनंद भी नहीं मिलता। अपने आपको दलितद्राक्षा की भांति निचोड़कर जब तक सर्व के लिए निछावर नहीं कर दिया जाता तब तक स्वार्थ खण्ड सत्य है, वह मोह को बढ़ावा देता है।' स्वार्थ की सीमा से ऊपर उठे बगैर दुःख से मुक्ति नहीं है। 'दुःख और सुख तो मन के विकल्प हैं। सुखी वह है जिसका मन वश में है, दुःखी वह है जिसका मन परवश है।' यह दुःख और सुख की नई समीक्षा है और एक नई जीवन दृष्टि भी। कुटज इसी नई जीवन दृष्टि का प्रतीक है। वह दुःख में, ताप में, कठोरता, में भी शान से जीता है, उसका जीवन मंत्र है- सुखम् वा यदि वा दुःखम्- 'चाहे सुख हो दुःख, प्रिय हो या अप्रिय, जो मिल जाए उसे शान के साथ, हृदय से बिल्कुल अपराजित होकर सोल्लास ग्रहण करो। हार मत मानो।' जो लोग कहते फिरते हैं कि द्विवेदीजी को उन्होंने सूसान लैंगर वगैरह की पुस्तक देकर उनका ज्ञान समृद्ध किया था, वे ये पंक्तियां पढ़कर अपना भ्रम दूर कर लें। द्विवेदीजी की इन पंक्तियों में सूसान लैंगर नहीं, वेदव्यास बोल रहे हैं।

'कुटज' वाली जिजीविषा 'देवदारु' में भी है, 'देखता हूं, पाषाण की कठोर छाती भेद कर यह देवदारु ने जाने किस पाताल से अपना रस खींच रहा है' लेकिन देवदारु की असली विशिष्टता है अभिजात्य, 'वह नीचे नहीं उतरा-समझौते के रास्ते नहीं गया और उसने अपनी खानदानी चाल नहीं छोड़ी।' देवदारु जीवन-संघर्ष से अधिक सृजन और सौंदर्यबोध का वाचक बन गया है। देवदारु क्या है? 'धरती के आकर्षण को अभिभूत करके लहरदार वितानों की शृंखला को सावधानी से संभालता हुआ, विपुल व्योम की ओर एकाग्रिभूत मनोहर छंद।' फिर उसी के बाहने तांडव और समाधि का स्वरूप स्पष्ट किया जाता है। तांडव क्या है? 'बाह्य प्रकृति के दुर्वार आकर्षण को छिन्न करने का उल्लास। और समाधि?' 'अंतः प्रकृति के असंयत फिंकाव को नियंत्रित करने के उल्लास का नाम समाधि है।' देवदारु तांडव के उल्लास को व्यक्त करता है और शिव की समाधि दूसरे प्रकार के उल्लास को। यद्यपि 'देवदारु' में भी मस्ती है लेकिन उसमें 'कुटज' जैसी अंतरंगता नहीं है और फिर शब्द और अर्थ, छंद और लय के दार्शनिक विवेचन से निबंध कुछ बोझिल भी हो गया है। उसमें द्विवेदीजी के अन्य व्यक्तिव्यंजक निबंधों जैसा प्रवाह नहीं है।

'नाखून क्यों बढ़ते हैं' ऐसा निबंध है जिसमें द्विवेदीजी ने अशोक, आम, शिरीष, कुटज आदि को माध्यम न बनाकर मनुष्य की देह प्रकृति -नाखून बढ़ने की प्रवृत्ति के बहाने मनुष्य के वास्तविक स्वरूप और उसकी नियति की विवेचना की है। दूसरे विश्वयुद्ध के सामयिक संदर्भ ने इस विवेचन को आश्चर्यजनक रूप से महत्वपूर्ण बना दिया है, 'मनुष्य के इतिहास में हिरोशिमा का हत्याकांड बार-बार थोड़े ही हुआ है।' मनुष्य जीवन की रक्षा के लिए नाखून से शुरू करके पत्थर, लकड़ी, हड्डी, लोहे के हथियारों से होता हुआ बंदूकों और बमों तक क्यों आ पहुंचा? क्या हिंसा उसकी मूल वृत्ति है, बढ़ते हुए नाखून जिसकी सूचना देते हैं? प्रजातीय विकास के क्रम में सींग और पूंछ झड़ गई मगर नाखून अब तक बने हुए हैं। क्या यही बताने के लिए मनुष्य की हिंसा वृत्ति का कभी नाश

न होगा? 'अब भी प्रकृति मनुष्य को उसके भीतर वाले अस्त्र से वंचित नहीं कर रही है, अब भी वह याद दिला देती है कि तुम्हारे नाखून को भुलाया नहीं जा सकता। तुम वही लाख वर्ष पहले के नख-दंतावलंबी जीव हो-पशु के साथ एक ही सतह पर विचरने वाले और चरने वाले।' समय के साथ मनुष्य की हिंसा वृत्ति घटने के बजाए बढ़ती ही जा रही है उसी प्रकार जिस प्रकार काटते रहने के बावजूद नाखून बढ़ते रहते हैं। तब क्या मनुष्यता के लिए कोई आशा नहीं है? वे कोई और होंगे जो हिरोशिमा जैसे हत्याकांडों को देखकर हर तरह से हताश होकर बैठ जाते हैं। द्विवेदीजी किसी भी हालत में मनुष्य और मनुष्यता से आशा नहीं छोड़ने वाले। वे आशा के लिए मनुष्य के सांस्कृतिक इतिहास की ओर देखते हैं। मनुष्य के साथ पशुता लगी हुई लेकिन वह निरंतर उससे जूझता रहा है, पशुता को पछाड़कर आगे बढ़ता रहा है क्योंकि 'पशु बनकर वह आगे नहीं बढ़ सकता।'

दरअसल मनुष्य देह मात्र नहीं है, इंद्रिय-मात्र नहीं है, केवल नाम और बुद्धि तक भी सीमित नहीं है, वह उसके भी आगे जा सकता है। जैविक धरातल उसके सबसे निम्न स्तर को सूचित करता है। मनुष्य इस पशु-सामान्य जैविक धरातल से ऊपर उठ कर उस क्षेत्र में विकास करता रहा है जिसे जूलियन हक्सले मनो-सामाजिक क्षेत्र कहते हैं। मनुष्य जिस हद तक जैविक धरातल की सीमा को पार करके मनो-सामाजिक क्षेत्र में आगे बढ़ता है उस हद तक उसका विकास होता जाता है और इस क्षेत्र में मनुष्यों के लिए विकास की अपरंपार संभावनाएं हैं। मनुष्य को अगर आगे बढ़ना है तो उसे जैविक धरातल से ऊपर उठना होगा, पशु-सुलभ हिंसावृत्ति को त्यागना होगा, अस्त्र बढ़ाते जाने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाना होगा। दूसरा उपाय नहीं है- नान्यः पंथा विद्यते अयनाय। इसीलिए भारतीय संस्कृति में इंद्रियों और मन के नियंत्रण का, संयम और त्याग का इतना महत्व है। द्विवेदीजी लक्ष्य करते हैं कि अंग्रेजी में जो Independence = अनधीनता है, वह हमारी भाषा में 'स्वाधीनता' है। 'हमारी समूची परंपरा ही अनजान में हमारी भाषा द्वारा प्रकट होती है।' स्वाधीनता अर्थात् स्व की अधीनता, स्व का नियंत्रण, आत्मसंयम। 'अपने आप पर अपने आप के द्वारा लगाया बंधन हमारी संस्कृति की बड़ी भारी विशेषता है।' वे महाभारत को याद करते हैं, जो सभी वर्णों के लिए सामान्य धर्म के रूप में निर्वैर, सत्य और अक्रोध की शिक्षा देता है। द्विवेदीजी का निष्कर्ष है- 'आत्मनिर्मित बंधन ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है।' जो नेता समझते हैं कि महज प्रचुर उत्पादन से मनुष्य सुखी हो जाएगा उन्हें वे गांधीजी की याद दिलाते हैं जिन्होंने कहा था कि बाहर नहीं भीतर देखो, हिंसा को, मिथ्या को, क्रोध और द्वेष को मन से दूर करो, 'लोक के लिए कष्ट सहो, आराम की बात मत सोचो' मगर गांधीजी को गोली मार दी गई, पशुता ही हावी हुई। द्विवेदीजी ने निबंध का अंत 'सफलता' और 'सार्थकता' की अवधारणा से किया है। गांधीजी ने आत्मसंयम का जो रास्ता बताया था वह 'मनुष्य की वास्तविक चरितार्थता' का रास्ता था। हथियारों के अंधाधुंध निर्माण और संग्रह से, उनके प्रयोग से 'क्षणिक सफलता' तो मिल सकती है लेकिन 'वास्तविक चरितार्थता' नहीं। हथियारों की होड़ बढ़ती जाती है बाह्य उपकरणों का भंडार बढ़ता जाता है, इससे सभ्यता और संस्कृति का निर्माण और विकास नहीं होता। सभ्यता और संस्कृति का निर्माता तो सजीव और चेतन मनुष्य है। हमें हथियारों की नहीं, मनुष्य की सोचनी चाहिए। 'मनुष्य की चरितार्थता प्रेम में है, मैत्री में है, त्याग में है, अपने को सबके मंगल के लिए निःशेष भाव से दे देने में है।' फिर यहीं नाखून की बात पर लौटते हुए द्विवेदीजी उपसंहार करते हैं, 'नाखूनों का बढ़ना मनुष्य की उस अंध सहजात

वृत्ति का परिणाम है जो उसके जीवन में सफलता ले आना चाहती है; उसको काट देना उस स्वनिर्धारिता आत्मबंधन का फल है, जो उसे चरितार्थता की ओर ले जाती है।... नाखून बढ़ते हैं तो बढ़ें, मनुष्य उन्हें बढ़ने नहीं देगा।'

इस प्रकार द्विवेदीजी के व्यक्तित्वयंजक निबंध उन्हीं की कसौटी के मुताबिक हृदय की अनुभूतियों को व्यापक और संवेदनाओं को तीक्ष्ण बनाते हैं। 'अशोक के फूल' में उन्होंने भारतीय संस्कृति के जिस समन्वित स्वरूप का उद्घाटन किया, 'आम फिर बौरा गए' में उसी का पुनराख्यान किया। 'शिरीष के फूल' और 'कुटज' दोनों संघर्ष और अपराजेय जीवन-बोध की एक ही भूमि पर रचे गए हैं। 'देवदारु' शब्द और अर्थ, छंद और लय के शास्त्रीय विवेचन से कुछ बोझिल हो गया है और उसमें उनके अन्य निबंधों जैसा प्रवाह भी नहीं है लेकिन 'नाखून क्यों बढ़ते हैं' में विचारों की ऊंचाई के साथ-साथ गजब का प्रवाह भी है। मनुष्य के वास्तविक स्वरूप, मानवीय नियति और सभ्यता-समीक्षा की दृष्टि से 'नाखून क्यों बढ़ते हैं।' हिंदी के व्यक्तित्वयंजक निबंधों के इतिहास में बेजोड़ हैं।

---

## श्रद्धांजलि

- रंगकर्मी हेमंत मिश्र (11 जून)
- कवि सत्येंद्र श्रीवास्तव
- कला मर्मज्ञ एवं कवि केशव मलिक
- कथाकार जगदंबा प्रसाद दीक्षित
- कथाकार मधुकर सिंह
- दलित चिंतक तेज सिंह

इन सभी दिवंगत विभूतियों को बहुवचन की हार्दिक श्रद्धांजलि

## आलोचना

# करुणा की चित्रलिपि में जीवन का गद्य

पंकज पराशर

महादेवी वर्मा की कविताएं चर्चा के केंद्र में इतनी अधिक रही हैं कि आज भी 'अज्ञात प्रियतम', 'नीर भरी दुःख की बदली' और 'मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ' जैसे बीज-शब्दों और काव्य-पंक्तियों के इर्द-गिर्द ही आम तौर पर सारी चर्चाएं केंद्रित होकर रह जाती हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के 'हिंदी साहित्य का इतिहास' का प्रथम संस्करण सन् 1929 में प्रकाशित हुआ और 1940 में उसका संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण आचार्य शुक्ल के जीते-जी ही प्रकाशित हुआ था। मगर आचार्य शुक्ल ने महादेवी वर्मा के 1940 तक के साहित्यिक अवदान को महज दो पैराग्राफ में समेट दिया और उसमें भी उनके गद्य-साहित्य का जिक्र नहीं किया। रामचंद्र शुक्ल ने संशोधित संस्करण की भूमिका में उल्लेख किया है, 'इस संस्करण में समसामयिक साहित्य का अब तक का आलोचनात्मक विवरण दे दिया गया है जिससे आज तक के साहित्य की गतिविधि का पूरा परिचय प्राप्त होगा।' बाद की चर्चाओं में भी बहुत दिनों तक आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना का इतना प्रभाव रहा कि महादेवी वर्मा की क्रांतिकारिता को दूँढ़ने के लिए भी बहुधा काव्य-लेखन को ही स्रोत मानने पर अधिक जोर रहा। कहना न होगा कि बहुत दिनों तक हिंदी आलोचना में 'मीरां और महादेवी' की कविता को लेकर तुलनात्मक अध्ययन का सिलसिला चलता रहा।

हिंदी में आलोचना अधिकांशतः काव्य-केंद्रित रही है-यह आरोप अक्सर हिंदी आलोचना पर चर्चा किया जाता है। महादेवी वर्मा के प्रसंग में जब हिंदी आलोचना की पड़ताल करते हैं, तो लगता है वाकई आलोचकों ने जाने-अनजाने कविता केंद्रित आलोचना को हिंदी आलोचना का पर्याय समझा। जिसके कारण काव्य-आलोचना के समानांतर कमोबेश आज तक हिंदी में गद्य साहित्य की आलोचना उस परिमाण और प्रतिमान दोनों संदर्भों में संभव नहीं हो पाई। महादेवी वर्मा अपने गद्य लेखन के बारे में कहती हैं, 'विचार के क्षणों में मुझे गद्य लिखना ही अच्छा लगता रहा है, क्योंकि उसमें अपनी अनुभूति ही नहीं बाह्य परिस्थितियों के विश्लेषण के लिए भी पर्याप्त अवकाश रहता है। मेरा सबसे पहला निबंध तब लिखा गया था जब मैं सातवीं कक्षा की विद्यार्थिनी थी, अतः जीवन की वास्तविकता से मेरा परिचय कुछ नवीन नहीं है।'²

चाहे साहित्य का इतिहास हो या समाज का इतिहास, हर क्षेत्र में नई पीढ़ी हमेशा चीजों को नई दृष्टि से देखने का प्रस्ताव करती है। नई दृष्टिसंपन्न नई पीढ़ी भाषा, इतिहास, समाज और राष्ट्र प्रत्येक चीज को उसी रूप में नहीं मान लेती है, जिस रूप में चीजें परंपरा से प्रचलित होती हैं। छायावादी दौर के कवियों में जयशंकर प्रसाद ने इतिहास को उसी रूप में नहीं मान लिया, जिस रूप



में अंग्रेज इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास की खोज और व्याख्या की थी। अपने नाटकों की भूमिका और कथ्य दोनों में उन्होंने इतिहास को देखने की नई दृष्टि, नई भाषिक शैली और सौंदर्य की खोज एवं उसकी प्रस्तावना की। काव्य-भाषा में छंद को अनिवार्य समझने वाली मानसिकता के बरक्स निराला ने जहां एक ओर मुक्तछंद को प्रस्तावित किया, वहीं 'चतुरी चमार', 'कुल्लीभाट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' जैसी कृतियों की रचना से यह साबित किया कि वाकई 'गद्य जीवन के संग्राम की भाषा है'। महादेवी वर्मा ने एक स्त्री के रूप में सिर्फ यही नहीं लिखा, 'मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ' बल्कि उन्होंने 'श्रृंखला की कड़ियां' के निबंधों 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएं' और 'पथ के साथी' के संस्मरणों और 'क्षणदा' के निबंधों में भारतीय स्त्रियों की पराधीनता और विवशता के यथार्थ को जिस कारुणिक भाषा में चित्रित किया है, उसका दूसरा कोई उदाहरण उस कालखंड में नहीं मिलता।

प्रेमचंद की कहानियों और उपन्यासों में गुलाम भारत के ग्रामीण और किसानों के जीवन-यथार्थ का चित्रण जिस रूप में हुआ है, उसे अनुपमेय माना जाता है। पर यदि हम महादेवी वर्मा के 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएं' और 'पथ के साथी' के संस्मरणों में चित्रित ग्रामीण स्त्रियों की पराधीनता की पीड़ा और तत्कालीन जीवन-यथार्थ को देखें, तो लगता है कि प्रेमचंद ने ग्रामीण स्त्रियों के जीवन यथार्थ का जैसा चित्रण किया है, वह एक पुरुष की दृष्टि से देखे हुए यथार्थ का महज ऊपरी परत है क्योंकि उनके कथा-साहित्य में स्त्रियों का जीवन-यथार्थ पुरुषों के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन-यथार्थ का ही एक हिस्सा-सा है जिसमें स्त्रियों के वैयक्तिक जीवन-यथार्थ, व्यक्तिगत दुःख, आकांक्षा और उसकी छटपटाहटों को कम जगह मिली है। 'श्रृंखला की कड़ियां' में महादेवी लिखती हैं, 'नारी का मानसिक विकास पुरुषों के मानसिक विकास से भिन्न परंतु अधिक द्रुत, स्वभाव अधिक कोमल और प्रेम-घृणादि भाव अधिक तीव्र तथा स्थायी होते हैं। इन्हीं विशेषताओं के अनुसार उसका व्यक्तित्व विकास पाकर समाज के उन अभावों की पूर्ति करता रहता है जिनकी पूर्ति पुरुष-स्वभाव द्वारा संभव नहीं।'<sup>3</sup> प्रेमचंद चूंकि कथाकार थे इसलिए कथा-साहित्य में पात्रों के बारे में कल्पना से छूट लेकर और उनके स्वरूप और स्वभाव को गढ़ने गुंजाइश थी, लेकिन महादेवी वर्मा ने संस्मरण, रेखाचित्र और निबंध की राह चुनी जिसमें कल्पना और 'गल्प' की कोई गुंजाइश नहीं होती। एक और बात जिसका जिक्र करना यहां अप्रासंगिक नहीं होगा कि प्रेमचंद की सहानुभूति स्त्रियों के साथ है, परंतु स्वानुभूति प्रेमचंद के पास नहीं है। इसलिए वे एक स्त्री की तरह गुलाम भारत की स्त्रियों की सामाजिक, ऐतिहासिक और राजनीतिक पराधीनता के यथार्थ को समझने में शायद असमर्थ थे।

महादेवी वर्मा की भाषा में स्त्रियों की दशा और पराधीनता को लेकर जो स्वाभाविक आक्रोश और व्यंग्य है, वह लेखिका के संयमित अंदाज के बावजूद किस तरह व्यक्त होता है, देखिये- 'जिस समाज में 64 वर्ष का व्यक्ति 14 वर्ष की पत्नी चाहता है, वहां 32 वर्ष की बिट्टो के पुनर्विवाह की समस्या सुलझा लेना टेढ़ी खीर थी। उसके भाग्य से 150 वर्ष की पूर्णायु वाला कोई पुरुष न मिला और उसके जन्म-जन्मांतर के अखंड पुण्य-फल से हमारे 54 वर्ष के बाबा ने उसके उद्धार का बीड़ा उठाया।'<sup>4</sup> कहना न होगा कि बेमेल विवाह का यह जीवंत उदाहरण तत्कालीन स्त्री-जीवन का क्रूर यथार्थ है, कोई गल्प नहीं। 'अतीत के चलचित्र' की वास्तविक नायिका 'बिट्टो' के इस जीवन यथार्थ



से लेखिका जहां एक ओर आक्रोशित होती हैं, वहीं इसी संस्मरण में आगे जाकर वे बिल्कुल संयत तरीके से समस्या को रेखांकित करती हैं- 'स्त्री जब किसी साधना को अपना स्वभाव और किसी सत्य को अपनी आत्मा बना लेती हैं, तब पुरुष उसके लिए न महत्व का विषय रह जाता है, न भय का कारण, इस सत्य का मान लेना पुरुष के लिए कभी संभव न हो सका। अपनी पराजय को बलात् जय का नाम देने के लिए संभवतः वह अनेक विषम परिस्थितियों और संकीर्ण सामाजिक, धार्मिक बंधनों में उसे बांधने का प्रयास करता रहता है। साधारण रूप से वैभव के साधन नहीं, मुट्टी भर अन्न भी स्त्री के संपूर्ण जीवन से भारी ठहरता है।'<sup>5</sup>

महादेवी वर्मा भारतीय स्त्रियों की पराधीनता की पीड़ा को चित्रित करने के लिए गल्प या कथा-कहानी नहीं, जीवित रहने के लिए संघर्ष कर रहे जीते-जागते वास्तविक पात्रों का रेखाचित्र और संस्मरण लिखती हैं जिसमें अधिकांशतः तो वे एक तटस्थ द्रष्टा होती हैं, पर उन पात्रों की स्थिति के लिए जिम्मेदार कारकों पर उनका आक्रोश और व्यंग्य अपनी करुणा और मारकता से इस विधा की ताकत को और अधिक उभार देती है। परतंत्र भारत में जमींदारी और सामंती व्यवस्था की जकड़न में लोगों की आकुलता किस तरह अभिव्यक्त होती है, यह उनकी पुस्तक 'स्मृति की रेखाएं' में 'गुंगिया' के संदर्भ में देखा जा सकता है। गुंगिया परिवार और समाज की सताई हुई एक वास्तविक पात्र है, लेकिन वह एक विशाल वाणीविहीन जनसमूह की रूपक भी है। उन विशाल जनसंख्या का रूपक जिन्हें न अक्षर-ज्ञान है, न संचार के साधनों के उपयोग की कला आती है। उन्हें बस इतना पता है कि जब कोई दूर हो तो उस तक चिट्ठी द्वारा अपनी व्यथा-कथा पहुंचाई जा सकती है। पर यह वे नहीं जानते कि संबंधित व्यक्ति तक चिट्ठी पहुंचाने के लिए पते की जरूरत होती है, जिसके बगैर चिट्ठी नहीं पहुंच सकती। मगर उन भलेमानुषों को परदेस गए अपने प्रियजनों की लोकप्रियता के बारे में गजब विश्वास है! महादेवी लिखती हैं, 'वे नगर के नाम से अधिक पता नहीं जानते, यह चाहे यह चाहे विस्मय की बात न हो, पर पत्र लिखने वाले की ख्याति के संबंध में उनका अडिग विश्वास आश्चर्य में डाले बिना नहीं रहता। किसी को विश्वास है कि उसके लाड़ले बेटे के रूप से सब परिचित होंगे। किसी की दृढ़ धारणा है कि उसके कुश्ती लड़ने वाले भतीजे का नगर-भर जानता होगा। कोई मानता है कि उसके भाई जैसे गवैये की ख्याति डाक-घर तक पहुंच गई होगी। कोई मानता है कि उसके सांप-बिच्छू का विष झाड़ने वाले चाचा से डाकिया अनजान नहीं हो सकता। कोई समझती है कि उसके पति का पशु-चिकित्सा-विशारद होना ही उसका पर्याप्त पता है। कोई कहता है कि उसके हनुमान-चालीसा कंठस्थ कर लेने वाले मामा की विद्वता छिपी नहीं रह सकती।'<sup>6</sup> ये पात्र नगर में रह रहे अपने परिजनों की वास्तविक स्थिति से भले अनजान हों, लेकिन महादेवी तो जानती हैं, 'इनके प्रिय संबंधियों की दूरदेश के जनसमूह में वही स्थिति है, जो समुद्र में बूंद की होती है, इसे वे न जानते हैं, न मानना चाहते हैं।'<sup>7</sup>

महादेवी जानती हैं कि सच क्या है, इसके बावजूद उन्हें न तो इन पात्रों की मूर्खता पर क्रोध आता है और न उन-जैसी अति संवेदनशील लेखिका की दृष्टि में ये ग्रामीण पात्र उपहास हेतु सुपात्रता रखते हैं। रघुवीर सहाय ने भारत की भोली जनता को ध्यान में रखकर अपनी कविता 'स्वाधीन भारत' में लिखा है- 'भाषा ही मेरी एक मुश्किल नहीं रही/ एक मेरी मुश्किल है जनता/ जिससे मुझे नफरत है सच्ची और निस्संग/जिस पर कि मेरा क्रोध बार-बार न्योछावर होता है।'<sup>8</sup> महादेवी वर्मा इन पात्रों

के बारे में और भी बड़े फलक पर सोच-विचार करती हैं कि आखिर इन पात्रों को इस दशा में किसने धकेला है? वे लिखती हैं, 'उनकी नासमझी पर कभी हँसी आती है, कभी क्रोध। उनकी विवशता पर कभी झुंझलाहट होती है, कभी ग्लानि। अपने भावों और विचारों के विनिमय के लिए इतने व्याकुल व्यक्तियों को किसने इतना असमर्थ बना डाला? इतने विशाल जन-समूह को वाणीहीन बनाकर जिन्हें अपनी वागविदग्धता का अभिमान है, वे कितने निर्लज्ज हैं?'<sup>9</sup> ऐसा वे उन विशाल जन-समूह के बारे में लिखने को विवश हैं, जो बोल सकते हैं। इस आधार पर 'गुंगिया' की विवशता और आकुलता की कल्पना की जा सकती है, जिन्हें विधाता ने अभिधा में भी वाणीहीन और मूक बना दिया।

'स्मृति की रेखाएं' में अनेक ऐसी स्त्रियां हैं, जो पुरुषसत्ता और समाजसत्ता के शोषण और उत्पीड़न का शिकार होकर जीने के लिए हरसंभव प्रयास करती हैं। जिनमें से एक भक्तिन हैं, जो बाद में लेखिका की सेविका से सहचरी-सी बन जाती हैं। नागर-समाज की स्त्रियों में जहां एक ओर आयु की वास्तविकता पर मिथ्या आवरण डालने का दुराग्रह पाया जाता है, वहीं ग्रामीण समाज की औरतें अपनी आयु की वास्तविकता बताने के मामले में चक्रवृद्धि ब्याज के नियमों को भी मात दे देती हैं। भक्तिन की लेखिका के साथ रहने की शुरुआत अपनी आयु कुछ इस तरह बताती है, 'तुम पचौ का का बताई-यहै पचास बरिस से संग रहित है।'<sup>10</sup> इस पर लेखिका की टिप्पणी बहुत दिलचस्प है, देखिए, 'इस हिसाब से मैं पचहत्तर की ठहरती हूं और वह सौ वर्ष की आयु भी पार कर जाती है, इसका भक्तिन को पता नहीं। पता हो भी, तो संभवतः वह मेरे साथ बीते हुए समय में रत्ती भर कम न करना चाहेगी। मुझे तो विश्वास होता जा रहा है कि कुछ वर्ष और बीत जाने पर मेरे साथ बीते समय को खींच कर सौ वर्ष तक पहुंचा देगी, चाहे उसके हिसाब से मुझे डेढ़ सौ वर्ष की असंभव आयु भार क्यों ने ढोना पड़े।'<sup>11</sup> भक्तिन का अतीत बेहद दारुण और शोषण-उत्पीड़न की अंतहीन की दास्तान है। स्त्री होकर भी अपनी कर्मठता से जो भक्तिन यानी लछमिन अपने घर में बेहद सख्ती से दरिद्रता का प्रवेश निषेध रखती है, वह पट्टीदारों-रिश्तेदारों के कुचक्रों से हार जाती है। नतीजतन जमींदार के कारिंदे जब लगान न चुका सकने के कारण उसे दिन भर धूप में खड़े रहने की सजा देते हैं, तो वह हारकर धन कमाने के लिए शहर की राह लेती है और लेखिका के घर में सेविका के रूप में आश्रय पाती है।

महादेवी वर्मा ने जिन पात्रों और उनके समाजों के बारे में लिखा है, उसमें सिर्फ स्त्रियां ही व्यवस्था और सत्ता की सताई हुई नहीं हैं, पुरुष भी पीड़ित हैं। इसलिए महादेवी को सिर्फ स्त्रियों के पक्ष में लिखने वाली स्त्रीवादी लेखिका कहना ठीक नहीं होगा। पुरुष-सत्ता, समाज-सत्ता और अर्थ-सत्ता की शिकार भारतीय समाज में सिर्फ स्त्रियां ही नहीं, पुरुष भी हैं। अपनी भावुकता और निश्छलता से पुरुषों की विवशता भी लेखिका के हृदय को अपार करुणा से आप्लावित कर देती है। 'बदलू', 'घीसा', 'रामा', 'अलोपी', 'चीनी फेरीवाला', 'जंग बहादुर' और 'ठकुरी बाबा' ऐसे पात्र हैं, जिनकी दशा उसी तरह लेखिका को मर्माहत करती हैं, जैसी कि 'गुंगिया', 'भक्तिन', 'बिबिया', 'सबिया', 'अभागी स्त्री', 'बालिका मां' या 'बिड्डो'।

छायावादी कविता में शब्द-शक्ति के और रूपों का चाहे जितना दोहन किया गया हो, अभिधा को प्रायः कम ही प्रयोग के लायक समझा गया। कदाचित्त इसलिए उस दौर के गद्य में भी लक्षणा और व्यंजना पर अधिक जोर देखा जा सकता है। महादेवी वर्मा के संस्मरणों और रेखाचित्रों की भाषा

को देखें तो वह अभिधात्मक नहीं, लक्षणा-व्यंजनापरक अधिक है, परंतु उनका कमाल यह है कि इससे भाषा की बोझिलता नहीं, प्रांजलता में वृद्धि होती है। इस वजह से पात्रों के अप्रिय से अप्रिय जीवन-प्रसंगों के चित्रण में भी लेखिका की भाषा बेहद संयत और तटस्थ होती है। उनका व्यंग्य और हास्य क्रोध के स्थान पर करुणा और मार्मिकता को जन्म देता है जिसके कारण पाठकों का ध्यान सहज ही उन जीवन-स्थितियों के कारणों और घटकों की ओर जाता है। तात्कालिकता के आवरण में शोषण के अंतहीन चक्रों की जन्मदाता सत्ता और व्यवस्था की ओर जाता है जिसकी शिकार स्त्रियां अधिक होती हैं, पर उससे पुरुष भी अछूते नहीं रहते। इसलिए वे भी महादेवी की सहानुभूति और प्रेम के दायरे से बाहर नहीं होते हैं। स्त्रियों को लेकर जो उनकी सोच है, वह महज इसी बिंदु से पश्चिम के स्त्रीवादी विमर्श से पृथक नहीं है। जीवन को लेकर अनेक ऐसी चीजें हैं, जिसको लेकर उनकी सोच उस घेरे से सर्वथा अलग है, जो अपने स्त्री-विमर्श के कारण पुरुष-सत्ता के विरोध को पुरुषों के विरोध का पर्याय समझ लेते हैं। 'शृंखला की कड़ियां' के पहले आलेख में महादेवी वर्मा लिखती हैं, 'महाभारत के समय की कितनी ही स्त्रियां अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व तथा कर्तव्यबुद्धि के लिए स्मरण रहेंगी। उनमें से प्रत्येक संसार-पथ में पुरुष की संगिनी है, छाया मात्र नहीं। छाया का कार्य, आधार में अपने आपको इस प्रकार मिला देना है जिसमें वह उसी के समान जान पड़े, और संगिनी का अपने सहयोगी की प्रत्येक त्रुटि को पूर्ण कर उसके जीवन को अधिक-से-अधिक पूर्ण बनाना।'<sup>12</sup>

स्त्रियों की दशा और उत्पीड़न के लिए महादेवी वर्मा आर्थिक गुलामी को एक बड़ा कारक तत्व मानती हैं। हालांकि पश्चिम में भी स्त्रियों को उत्तराधिकार और संपत्ति का अधिकार शुरू से हासिल नहीं था, लेकिन व्यवहारिक दृष्टि से देखें तो भारत में तो यह आज भी स्त्रियों को सहजता से सुलभ नहीं है। इसलिए कोई पुरुष जब यह स्त्री को देता है तो सहजता से नहीं, दानवीरता और जाने-अनजाने देने के दंभ के साथ। पर 'मानुष पेम भयऊ बैकुंठी नाहिं तो काह छार भरि मूठी' की प्रतिमा-सी मैत्रेयी को जब उसके पति याज्ञवल्क्य सब कुछ देकर वन जाने को प्रस्तुत होते हैं, तो मैत्रेयी धन और वैभव के ऐश्वर्य को 'छार भरि मूठी' के समान समझती हुई कहती है, 'यदि ऐश्वर्य से भरी सारी पृथ्वी मुझे मिल जाए तो क्या मैं अमर हो सकूंगी?'<sup>13</sup> जाहिर है, धन से अमरता का कोई संबंध नहीं, इसलिए मैत्रेयी को धन से सुविधाएं तो मिल सकती थीं, अमरत्व नहीं। पर आज की स्त्रियों का काम्य महज अमरत्व नहीं है, न हो सकता है। मनुष्यता से भी एक दर्जा नीचे रहने और जीने का जो अभिशाप स्त्रियां धनाभाव और धनार्जन के स्रोतों के अभाव में भोगती हैं, वह अर्थ-सत्ता पर पकड़ के बाद उतनी पीड़ादायी नहीं होगी। इसलिए महादेवी स्पष्टता से अपनी राय प्रकट करती हैं 'यदि उन्हें अर्थ संबंधी वे सुविधाएं प्राप्त हो सकें जो पुरुषों को मिलती आ रही हैं तो न उनका जीवन उनके निष्ठुर कुटुंबियों के लिए भार बन सकेगा और न वे गलित अंग के समान समाज से निकाल कर फेंकी जा सकेंगी, प्रत्युत वे अपने शून्य क्षणों को देश के सामाजिक तथा राजनीतिक उत्कर्ष के प्रयत्नों से भर कर सुखी रह सकेंगी।'<sup>14</sup>

महादेवी वर्मा स्त्रियों के अर्थ स्वातंत्र्य की आवश्यकता को कई कोणों से परखने का प्रयास करती हैं। दरअसल यह ऐसा मुद्दा है जिसको लेकर आज भी भारतीय समाज में आंतरिक कश-म-कश जारी है कि लड़कियों को नौकरी के लिए घर से निकलना चाहिए कि नहीं। महादेवी सन 1942 में इस

बात पर गंभीरतापूर्वक विचार कर रही थीं, जब स्त्री शिक्षा का स्तर देश में बहुत कम था और सार्वजनिक जीवन और सार्वजनिक स्थलों पर मध्यवर्ग की महिलाओं की उपस्थिति बहुत कम थी। स्त्रियों के लिए आधुनिक शिक्षा सबसे पहली और बुनियादी जरूरत है, जिसके बाद वह अन्य चीजों के बारे में स्वतः जागरूक और स्वतंत्र रूप से निर्णय लेने में काफी हद तक सक्षम हो जाती हैं। बाल-विवाह, बेमेल विवाह आदि सामाजिक समस्या से ज्यादा आर्थिक कारणों से उपजी समस्या है। महादेवी वर्मा कहती हैं, 'हम स्त्रियों के विवाह की चिंता इसलिए नहीं करते कि देश या जाति में सुयोग्य माताओं या पत्नियों का अभाव हो जाएगा, वरन इसलिए कि हम उनकी आजीविका का कोई और सुलभ साधन नहीं सोच पाते। माता-पिता चाहे संपन्न हो चाहें दरिद्र, कन्या का कोई उत्तरदायित्व प्रसन्नता से अपने ऊपर नहीं लेना चाहते और न विवाह के अतिरिक्त उससे छुटकारा पाने का मार्ग ही पाते हैं। विधवाओं की भी हमारे निकट एक ही समस्या है। किसी स्त्री के विधवा होते ही प्रश्न उठता है कि उसका भरण-पोषण और उसकी रक्षा कौन करेगा?'<sup>15</sup> आजकल इन समस्याओं में थोड़ी कमी अवश्य आई है, पर ये निर्मूल नहीं हुई हैं। अजीब विडंबना है कि शहरी समाज की आधुनिक शिक्षा प्राप्त और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर स्त्रियों के पिता को भी आज दहेज न देना पड़ता हो, उनकी लड़कियां दहेज उतपीड़न और घरेलू हिंसा का शिकार न हो रही हो, ऐसा नहीं है। आज तो सीधे कोख में उतरती है कटार और दुनिया में आने से पहले ही कन्या भ्रूण की हत्या हो जाती है। किसी से घोर नफरत करने के लिए समाज भले किसी का बहिष्कार न करता हो, पर प्रेम करने के लिए आज न केवल समाज बहिष्कृत करता है, बल्कि जान लेने के अलावा और किसी बात से अपनी प्रतिष्ठा नहीं बचाना जानता है। उत्तर-आधुनिकता के हो-हल्ले के बीच पिछले कुछ वर्षों में जिस तरह खाप पंचायतों ने मध्यकालीन तरीके से फैसले किए हैं और प्रेमी-युगलों को सजा-ए-मौत दी है, उसके कारण राधा-कृष्ण के प्रेम का परचम लहराने वाले समाज में नफरत के झंडे को ज्यादा बुलंद हुआ है। आधुनिकता ने एक तरफ जहां स्त्रियों को आगे बढ़ने और बराबरी के मौके प्रदान किए हैं वहीं दूसरी तरफ पिछले दो दशकों में स्त्रियों के प्रति होने वाली सामाजिक हिंसा में भी अभूतपूर्व वृद्धि हुई है।

यह दौर न केवल मूल्यों और अस्मिताओं के टकरावों का है, बल्कि आधुनिकता और मध्यकालीन जीवन-मूल्यों के बीच टकरावों का भी है। एक तरफ जैसे-जैसे सूचना तकनीक हमारे जीवन के तमाम क्षणों और निर्णयों में शामिल हो रहा/हो चुका है, वहीं दूसरी ओर धार्मिक प्रतीकों, व्यवहारों और स्त्रियों को पारिवारिक संपत्ति समझने वाली मध्यकालीन मानसिकता का जोर बढ़ रहा है। स्त्रियों को स्त्री-धन समझकर सात तालों में बंद रखने की सामंती मानसिकता इस उत्तर-आधुनिकता की ओर अग्रगामी समाज में एक उपनिवेश की तरह बन और बढ़ रहा है। स्त्रियों की आकांक्षा और स्वप्न को वाणी देते हुए महादेवी वर्मा ने सन 1936 में 'हमारी समस्याएं' नामक निबंध में लिखा था- 'स्त्री न घर का अलंकार मात्र बनकर जीवित रहना चाहती है, न देवता की मूर्ति बनकर प्राण-प्रतिष्ठा चाहती है। कारण वह जान गई है कि एक का अर्थ अन्य की शोभा बढ़ाना तथा उपयोग न होने पर फेंक दिया जाना है तथा दूसरे का अभिप्राय दूर से उस पुजापे को देखते रहना है जिसे उसे न देकर उसी के नाम पर लोग बांट लेंगे। आज उसने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष को चुनौती देकर अपनी शक्ति की परीक्षा देने का प्रण किया है और उसी में उत्तीर्ण होने को जीवन की चरम

सफलता समझती है।<sup>16</sup>

महादेवी वर्मा के विचार और वितर्क का परिक्षेत्र अत्यंत व्यापक है। वह कई मुद्दों और कई स्तरों पर अपनी बात बहुत साफगोई से कहती हैं। सिर्फ यही नहीं कि वे रेखाचित्रों, संस्मरणों और लेखों में पीड़ित मनुष्यों की पीड़ा का चित्रण करते हैं, बल्कि जीवन-जगत, इतिहास, समाज, कला, साहित्य तमाम चीजों के की समस्या, सौंदर्य और मनुष्य की सुग्राह्यता के बारे में लिखती हैं। उनके विचारों और तर्कों की उदात्तता के कारण उनके लेखों में किसी खास नजरिये से प्राप्त दृष्टि के कारण एक ही आयाम और दृष्टिकोण पर जोर देने की एकांगी आग्रहशीलता नहीं दिखाई देती है। कहना न होगा कि बहस में स्वस्थ और तार्किक बहस की जगह जब अपने आग्रह को जिद की तरह पेश किया जाने लगता है तो बहस नहीं चल पाती है। महादेवी अपने तर्कों को कहीं से दुराग्रह या जिद नहीं बनने देती हैं, बल्कि वे अनेक मतों और दृष्टिकोणों का आवाहन करती हुई-सी आगे बढ़ती हैं।

विभिन्न विषयों पर लिखे निबंध-संग्रह 'क्षणदा' में 'संस्कृति के प्रश्न' नामक अध्याय में संस्कृति के विभिन्न आयामों की पड़ताल करते हुए महादेवी लिखती हैं, 'भारतीय संस्कृति का प्रश्न अन्य संस्कृतियों से कुछ भिन्न है, क्योंकि वह अतीत की वैभव-कथा ही नहीं, वर्तमान की करुण-गाथा भी है। उसकी विविधता प्रत्येक अध्ययनशील व्यक्ति को कुछ उलझन में डाल देती है। संस्कृति विकास के विविध रूपों की समन्वयात्मक समष्टि है और भारतीय संस्कृति विविध संस्कृतियों की समन्वयात्मक समष्टि है। इस प्रकार इसके मूल तत्व को समझने के लिए हमें अधिक उदार, निष्पक्ष और व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता रहती है।'<sup>17</sup> संस्कृति और धर्म की आज जैसी व्याख्या की जा रही है, जिस तरह बहु-सांस्कृतिक समाज की अस्मिता को एकल अस्मितावादी समाज में रिड्यूस करने की प्रवृत्ति प्रोत्साहित की जा रही है, उससे सहज ही असहिष्णुता और सामाजिक तनाव उत्पन्न होता है। इन्हीं तनावों और दबावों के फलस्वरूप युद्धोन्माद पैदा होता है और अगर किसी समाज को युद्ध का सामना करना पड़ा, तो उसकी सबसे अधिक शिकार स्त्रियां होती हैं।

पौराणिक मिथकीय उदाहरणों से लेकर आजतक के युद्धों के इतिहास को देखें, तो पाते हैं कि युद्ध से अंततः हासिल कुछ नहीं होता-सिवाय विध्वंस, मृत्यु, भूख और बर्बादी के। मगर अपने अहं और प्रलोभनों के कारण पुरुष-सत्ता युद्धों से गुरेज नहीं करती, स्त्रियां युद्धों से बचने का प्रयत्न करती हैं। जाहिर है, इसलिए भी क्योंकि वह जानती हैं कि इसका परिणाम और परिताप सबसे अधिक उन्हें ही भोगना होगा। महादेवी लिखती हैं, 'वास्तव में वह पुरुष के दृष्टिकोण से युद्ध को देख ही नहीं सकती। कुछ स्वभाव के कारण और कुछ बाहर के संघर्ष में रहने के कारण पुरुष गृह में उतना अनुरक्त नहीं हो सका जितनी स्त्री हो गई थी। उसके लिए गृह का उजड़ जाना एक सुख के साधन का बिगड़ जाना हो सकता है, परंतु स्त्री के लिए वही जीवन का उजड़ जाना है। युद्ध गृह के लिए प्रलय है, इसी से संभवतः वह इससे अलग रही है।'<sup>18</sup> कहना न होगा कि युद्ध मनुष्य और मनुष्यता के विध्वंस का कारक है, जो निर्माण और सृजनधर्मी चेतना का विलोम है। एक स्त्री ही घर को घर बना सकती है या कहें बना पाती है, क्योंकि उसमें स्वाभाविक तौर पर रचने और कुछ निर्मित करने की क्षमता होती है। लोकोक्तियों और लोक-वचनों में अभिव्यक्त स्त्री-छवि को देखें तो यह आकस्मिक नहीं है, 'बिन घरनी घर भूत का डेरा।' पुरुष चाहे कितना ही काबिल और सृजनशील क्यों न हो, घर की अवधारणा ही बिना स्त्री के स्पष्ट और पूर्ण नहीं होती।

भारतीय समाज में धर्म, अध्यात्म, संस्कृति और साहित्य ऐसा क्षेत्र है, जिसकी व्याख्या और विश्लेषण का अधिकतर पुरुषों के पास रहा। जिसका नतीजा यह हुआ कि पुरुष-सत्ता ने उन्हीं चीजों को ज्यादा जोर देकर प्रचारित किया, जो उसके पक्ष में अधिक थी/हो सकती थी। यहां तक कि साहित्य और कला के क्षेत्र में पुरुष वर्चस्व की सत्ता ने सदियों तक स्त्री-क्षमता को विकसित ही नहीं होने दिया। भारतेंदु युग में तमाम चेतना और क्रांतिकारिता के बावजूद यदि हम स्त्रियों की सहभागिता की दृष्टि से देखें तो कितनी स्त्रियां साहित्य में सक्रिय थीं? द्विवेदी युग में कितनी स्त्रियों की साहित्यिक क्षमता पल्लवित-पुष्पित होने का अवसर दिया गया? सन् 1911 से 1915 के बीच राजेन्द्रबाला घोष के अलावा सरस्वती देवी और भाग्यवती देवी नामक महिलाओं ने भी कहानी लिखने की हिकमत की थी, परंतु पुरुष साहित्यकारों ने निषेधवादी दृष्टि के कारण महिला कथाकारों की पहचान जान-बूझकर नहीं की। राजेन्द्रबाला घोष की पहचान को रिड्यूस करके 'बंगमहिला' में प्रत्यावर्तित कर देने वाली शक्तियां दशकों तक महादेवी वर्मा को महज 'नीर भरी दुःख की बदली' बताकर एक खास तरह की स्त्री-छवि के घेरों तक सीमित करती रही।

महादेवी वर्मा 'साहित्य और साहित्यकार' नामक निबंध में लिखती हैं- 'अपने सृजन से साहित्यकार स्वयं भी बनता है, क्योंकि उसमें नए संवेदन जन्म लेते हैं, नया सौंदर्यबोध उत्पन्न होता है और नए जीवन-दर्शन की उपलब्धि होती है। सारांश यह है कि वह जीवन की दृष्टि से समृद्ध होता जाता है, इसी से साहित्य सृष्टि का लक्ष्य स्वांतः सुखाय का विरोधी नहीं हो सकता। पर यह क्रिया अपने कर्ता को बनाने के साथ उसके परिवेश को भी बनाती चलती है, क्योंकि समष्टि में इन्हीं नवीन संवेदनों, सौंदर्यबोधों और विश्वासों का स्फुरण होता रहता है।'<sup>19</sup> महादेवी ने महात्मा बुद्ध को लेकर बहुत तार्किकता से कुछ बातों की हैं जिससे पता चलता है कि महादेवी अपनी चयनधर्मी दृष्टि बुद्ध के आचरण और उनकी बातों को तर्कपूर्ण तरीके से परीक्षण के बाद विचार और प्रस्ताव के लायक समझती हैं। दुनिया भर में बुद्ध की स्वीकार्यता और ग्राह्यता को लेकर विचार करने के साथ-साथ वे इस बात पर भी विचार करती हैं कि किस तरह अवतारवाद के सिद्धांतकारों ने विरोध, स्वीकार और अंगीकार के बाद उनके परीक्षित विचारों को भी सनातनता में विलीन कर दिया। महादेवी लिखती हैं, 'संसार के धर्म संस्थापकों की पंक्ति में बुद्ध ही ऐसे अकेले हैं जिन्होंने मनुष्य के संबंधों में सामंजस्य लाने के लिए परमात्मा की मध्यस्थता नहीं स्वीकार की, मनुष्यता उत्पन्न करने के लिए किसी पारलौकिक अस्तित्व का सहारा नहीं लिया। जिस निर्मम बौद्धिकता के साथ वे अपने वचनों को भी तर्क की कसौटी पर कस कर ही स्वीकार करने के लिए कहते हैं, उसी के साथ वे जीवन के अंतिम क्षणों में भी अपने संस्थापित धर्म के लिए कोई उत्तराधिकारी नहीं चुनते।'<sup>20</sup>

हिंदी आलोचना ने इस बात को आज तक उचित महत्व के साथ रेखांकित नहीं किया कि महादेवी वर्मा संभवतः अकेली ऐसी लेखिका हैं, जिन्होंने पशु-पक्षियों को 'मेरा परिवार' कहा है। उन्होंने पशु-पक्षियों के साहचर्य और अनुभवों को उसी तरह आत्मीय संस्मरण के योग्य समझा, जैसा वे शोषित-उत्पीड़ित मनुष्यों को विषय बनाकर लिखे गए अपने संस्मरणों और रेखाचित्रों में मनुष्यों को समझती हैं। चूंकि वे इन पशु-पक्षियों को अपना परिवार बताती हैं, इसलिए यह अकारण नहीं है कि इनके नाम भी मानवीय नाम हैं। महादेवी वर्मा पशु-पक्षियों की निश्छलता, करुणा और स्नेहिल क्रिया-कलापों को बेहद सूक्ष्मता से देखती हैं और ऐसी-ऐसी सूचनाएं सहजता देती हुई चलती हैं,

जिसकी जानकारी बेहद कम लोगों को होती है। प्रकृति के साथ मनुष्यों के बढ़ते संघर्ष के कारण वनस्पतियों, फूलों और पशु-पक्षियों के बारे में हमारी जानकारी बेहद सीमित होती चली गई जिसके कारण बहुत-सी वनस्पतियां, पशु-पक्षी आदि विलुप्त हो चुके हैं, कुछ विलुप्तप्राय हैं और जो कुछ बचे हैं उनमें से अधिकांश या तो अभ्यारण्यों में या चिड़ियाघर में बचे हैं। महादेवी के परिवार पर बात करते हुए आगे हम इसका थोड़ी गहराई में जाकर उल्लेख करेंगे कि पशु-पक्षी विषयक उनका ज्ञान कितना विस्तृत और सटीक है।

‘नीलकंठः मोर’ पर लिखते हुए नखासकोने के बारे में महादेवी लिखती हैं- ‘जितने दंगे-फसाद और छुरे-चाकूबाजी की घटनाएं होती हैं, सबका अशुभारंभ प्रायः नखासकोने से ही होता है। आंखों का सरकारी अस्पताल भी वहीं प्रतिष्ठित है। शत्रु-मित्र की पहचान के लिए दृष्टि कमजोर हो तो वहां ठीक कराई जा सकती है, जिससे कोई भूल होने की संभावना न रहे।’<sup>21</sup> नखासकोने के पास अस्पताल की विडंबना महादेवी की नजर से बच नहीं पाती है, वहीं अस्पतालों की हालत और कार्य-प्रणाली के बारे में वे जैसी टिप्पणी करती हैं, उससे समझा जा सकता है आज हमारे देश में सरकारी अस्पतालों की जो हालत है, वह अंगरेज बहादुरों का बनाया हुआ मॉडल है जिसकी बदहाली में अपना संपूर्ण योगदान देकर स्वतंत्र भारत की सरकारों ने भारत की आम जनता के बारे में अपने पूर्व शासकों की राय को अक्षुण्ण रखा है। महादेवी कहती हैं- ‘हमारे देश में अस्पताल, साधारण जन को अंतिम यात्रा में संतोष देने के लिए ही तो है। किसी प्रकार घसीटकर, टांगकर उस सीमा-रेखा में पहुंचा आने पर बीमार और उसके परिचारकों को एक अनिर्वचनीय आत्मिक सुख प्राप्त होता है। इससे अधिक पाने की न उसकी कल्पना है, न मांग। कम-से-कम इस व्यवस्था से अंतिम समय मुख में गंगाजल, तुलसी, सोना डालने की समस्या तो सुलझा ही दी है।’<sup>22</sup>

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, महादेवी की कविता ही नहीं, उनकी भाषा को लेकर भी अकसर यह बात कही जाती है कि उनमें विविधता का अभाव है पर अपने संस्मरणों में महादेवी ने विभिन्न पात्रों की भाषिक विविधता, ध्वनि-वैविध्य और आंगिक-भाषा की बारीकियों को जितनी बारीकी और जितने स्तरों पर वे पकड़ती हैं, उससे उनके ऊपर भाषिक-एकरसता का जो आरोप लगाया जाता है वह सर्वथा निर्मूल साबित होता है। चिड़िया बेचने वाले बड़े मियां की भाषा को कैसे ध्वन्यांकित करती हैं- देखिए, ‘ईमान कसम, गुरुजी, चिड़ीमार ने मुझसे इस मोर के जोड़े के नकद तीस रुपए लिए हैं। बारहा कहा, भई जरा सोच तो अभी इनमें मोर की कोई खासियत भी है कि तू इतनी बड़ी कीमत ही मांगने चला!’<sup>23</sup>

अब इस उदाहरण से सर्वथा अलग एक देहाती औरत भक्तिन की भाषा को महादेवी कैसे पकड़ती हैं, वह भी देखिए ‘हमार मलकिन तौ रात-दिन कितबियन मां गड़ी रहती हैं। अब हमहूं पढ़े लागब तो घर-गिरिस्ती कउन देखी-सुनी।’<sup>24</sup>

एक तरफ उर्दू की पृष्ठभूमि के बड़े मियां की भाषा, दूसरी तरफ अवध के देहात की एक निरक्षर स्त्री की भाषा और यह देखिए ‘चीनी फेरीवाला’ की भाषा का जीवंत नमूना, ‘सिस्तर का वास्ते हैंकी लाता है-भोत बेस्त, सब सेल हो गया। हम इसको पाकेत में छिपा के लाता है।’<sup>25</sup> इन कुछ उदाहरणों से देखा जा सकता है कि महादेवी की गद्य-भाषा कितनी जीवंत और अनेक स्तरीय भाषा है।

नीलकंठ मोर और उसके बचपन की संगिनी राधा मोरनी के बीच जब एक नई मोरनी कुब्जा



का आगमन होता है, तो यह आगमन कैसे नीलकण्ठ-राधा के एकनिष्ठ प्रेम के बीच दीवार और जानलेवा साबित होता है, इसका अत्यंत मार्मिक चित्रण महादेवी वर्मा ने किया है। लेखिका को लगा कि थोड़े दिनों की लड़ाई है, बाद में सब ठीक हो जाएगा। मगर तीन-चार मास बीतते नीलकण्ठ सदा के लिए सो गया। कुब्जा भी अपनी शैतानी प्रवृत्ति के कारण कजली नामक अल्सेशियन कुतिया की शिकार हो गई। बच जाती है राधा नामक मोरनी, जो आषाढ के मेघाच्छन्न आकाश को देखकर विरह-व्यथा की मारी नीलकण्ठ को उच्च स्वरों में पुकारती रहती है जैसे मेघ को देखकर विरही यक्ष अपनी प्रिया के लिए मेघ के माध्यम से संदेश भेजना चाहता हो।

लेखिका ने अपने परिवार में कुछ ऐसे पशु-पक्षियों को शामिल किया, जिसे आम तौर पर पालतू पशु-पक्षी की श्रेणी में नहीं रखा जाता है। मसलन एक छोटी-सी गिलहरी का बच्चा जिसे लेखिका 'गिल्लू' नाम देती है, उसे वह बड़े जतन से पालती है। गिलहरी प्रायः पालतू नहीं मानी जाती है, लेकिन प्रेम और स्नेह की भाषा ऐसी भाषा होती है जिसे शायद गिलहरी भी समझ लेती है। लेखिका के परिवार का सबसे छोटा सदस्य गिल्लू उनसे कैसे हिल-मिल गया, यह लेखिका के शब्दों में ही देखिए, 'मेरे पास बहुत से पशु-पक्षी हैं और उनका मुझे लगाव भी कम नहीं है, परंतु उनमें से किसी को मेरे साथ मेरी थाली में खाने की हिम्मत हुई है, ऐसा मुझे स्मरण नहीं आता। गिल्लू इनमें अपवाद था। मैं जैसे ही खाने के कमरे में पहुंचती, वह खिड़की से निकलकर आंगन की दीवार पार करके मेज पर पहुंच जाता और मेरी थाली में बैठ जाना चाहता। बड़ी कठिनाई से मैंने उसे थाली के पास बैठना सिखाया, जहां बैठकर वह मेरी थाली में से एक-एक चावल उठाकर बड़ी सफाई से खाता रहता।'<sup>26</sup>

त्रासद यह है कि इस निश्छलता और कोमलता का अंत जल्दी ही हो जाता है। पशु-पक्षियों के जीवन-चक्र से अनभिज्ञ अधिकांश लोगों को शायद यह ज्ञात न हो, इसलिए महादेवी कहती हैं, 'गिलहरियों के जीवन की अवधि दो वर्ष से अधिक नहीं होती अतः गिल्लू की जीवन-यात्रा का अंत आ ही गया। दिनभर उसने न कुछ खाया, न बाहर गया। रात में अंत की यातना में भी मेरी वही उंगली पकड़कर मेरे बिस्तर पर आया और ठंडे पंजों से मेरी वही उंगली पकड़कर हाथ से चिपक गया, जिसे उसने अपने बचपन की मरणासन्न स्थिति में पकड़ा था।'<sup>27</sup> महादेवी को जैसे ही अवकाश मिलता है, वह मनुष्य की निष्ठुरता और पाखंडप्रियता पर व्यंग्य करने से नहीं चूकती हैं। सोना हिरनी के बहाने मृत्यु को लेकर लेखिका का व्यंग्य और आक्रोश देखिए, 'मनुष्य मृत्यु को असुंदर ही नहीं, अपवित्र भी मानता है। उसके प्रियतम आत्मीय जन का शव भी उसके निकट अपवित्र, अस्पृश्य तथा भयजनक हो उठता है। जब मृत्यु इतनी अपवित्र और असुंदर है, तब उसे बांटते घूमना क्यों अपवित्र और असुंदर नहीं कार्य नहीं है, यह मैं नहीं समझ पाती।'<sup>28</sup> बम-बारूद और संहारक हथियारों के सौदागरों पर इतना करारा व्यंग्य छायावाद के किसी और कवि ने किया हो, मुझे याद नहीं आता।

लेखिका के परिवार का दुर्मुख नामधारी खरगोश उस करुण-कथा की सहसा याद दिला देता है, जो सीता के साथ घटित हुआ। दुर्मुख राजा राम के उस गुप्तचर का नाम था जिसने धोबी दंपति के शयन कक्ष की उस बातचीत की खबर पहुंचाई थी जिसमें उसने सीता के चरित्र पर संदेह जाहिर किया था। उस दुर्मुख के बहाने महादेवी एक सूचना देती हैं, 'प्रायः खरगोश की गंध से सांप आ जाते हैं, क्योंकि वह उसके प्रिय खाद्यों में से एक है।'<sup>29</sup> खरगोश सांप के सामने निरुपाय और असहाय



हो जाता है, परंतु दुर्मुख नामधारी वह खरगोश बेहद क्रोधी स्वभाव का था। क्रोधी प्रकृति पर टिप्पणी करते हुए दुर्मुख के अंत की कथा देखें, 'क्रोधी प्रकृति में भी पार्थिव रूप से विष नहीं रहता, इसी से बेचारा दुर्मुख संपोले का भी दंशन-विष नहीं सह सका, परंतु मृत्यु से पहले उसने शत्रु के दो खंड करके प्रतिशोध तो ले ही लिया।'<sup>30</sup> गौरा गाय के बारे में लिखते हुए महादेवी वर्मा ने मनुष्य की ईर्ष्या और स्वार्थ की पराकाष्ठा के साथ-साथ गौरा के करुण अंत की कथा को जिन शब्दों में व्यक्त किया है, वह करुणा चित्रलिपि में लिखी गई है। 'कुछ ग्वाले ऐसे घरों में, जहां उनसे अधिक दूध लिया जाता है, गाय का आना सह नहीं पाते। अवसर मिलते ही वे गुड़ में लपेटकर सुई उसे खिलाकर उसकी असमय मृत्यु निश्चित कर देते हैं। गाय के मर जाने पर उन घरों में वे पुनः दूध देने लगते हैं।'<sup>31</sup> कुत्ता का मानव ऐसा पुराना संगी है जिसका माहात्म्य आज भी कुछ कम नहीं है। 'नीलू कुत्ते' के बारे में लिखते हुए महादेवी के पास कुत्तों से संबंधित पाठकों को देने के लिए अनेक सूचनाएं हैं, उदाहरण देखिए :

'अल्सेशियन कुत्ता एक ही स्वामी को स्वीकार करता है।'

'वैसे तो लकड़बग्घा कुत्ते से कुछ ही बड़ा होता है, परंतु कुत्ता इसका प्रिय खाद्य होने के कारण रक्षणीय स्थिति की स्थिति में आ जाता है।'

'कुत्ते भाषा नहीं जानते ध्वनि पहचानते हैं। नीलू का ध्वनि ज्ञान इतना विस्तृत और गहरा था कि उससे कुछ कहना भाषा जाननेवाले मनुष्य से बात करने के समान हो जाता था।'<sup>32</sup>

महादेवी वर्मा का छुटपन में ही पशु-पक्षियों से अधिक साहचर्य हो गया था। मुर्गी के छोटे से बच्चे मूंगा से लेकर निक्की नेवला, रोजी कुत्ती और रानी घोड़ी तक से लेखिका की बचपन में ही मैत्री हो गई थी। बाद में क्या पालतू और क्या जंगली, अनेक जीव-जंतु उनके परिवार के सदस्य-जैसे हो गए। हिंदी के कवि जानकीवल्लभ शास्त्री आवारा गायों के बड़े संरक्षक थे। कवि रघुवीर सहाय एक बिल्ली पालते थे और जिनके प्रति वे काफी सदय थे, बावजूद इसके शायद ही कोई हिंदी का ऐसा लेखक हो जिसका अनेक तरह के पशु-पक्षियों के साथ इतना लंबा साहचर्य रहा हो और उसके पास इन जीवों के बारे में इतनी गहरी और सूक्ष्म जानकारियों का जखीरा हो। दूसरी और बेहद अहम बात, जिसे खास तौर पर रेखांकित करने की जरूरत है, वह यह है कि महादेवी ने जिस तरह इन जीवों के दैनंदिन जीवन और अपने साथ के साहचर्य को मनुष्यवत मानकर उनके बारे में जिस ममता और प्रेम से लिखा है और उन्हें 'मेरा परिवार' कहा है-क्या कोई और उदाहरण है? महादेवी के गद्य में जिस तरह भाषा के अनेक स्तरों पर बात करती हैं, अनुभव के विस्तीर्ण आकाश को इस तरह पाठकों के अनुभवों से एकमेक कर देती हैं कि सहज ही उनके लोक से तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

**संदर्भ:**

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, संस्करण, 2003
2. महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियां की भूमिका से, भारती भंडार, प्रयाग, संस्करण, 1958
3. वही, पृष्ठ-12
4. महादेवी वर्मा, अतीत के चलचित्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1999, पृष्ठ-50
5. वही

6. महादेवी वर्मा, स्मृति की रेखाएं, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1999, पृष्ठ-107
7. वही
8. रघुवीर सहाय, प्रतिनिधि कविताएं, राजकमल पैपरबैक्स, 1994, पृष्ठ-48
9. महादेवी वर्मा, स्मृति की रेखाएं, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1999, पृष्ठ-108
10. वही, पृष्ठ-9
11. वही
12. महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कड़ियां, भारती भंडार, प्रयाग, संस्करण, 1958, पृष्ठ-13
13. वही, पृ.-12
14. वही, पृ.-21
15. वही, पृ.-84
16. वही, पृ.-128
17. महादेवी वर्मा, क्षणदा, भारती भंडार, इलाहाबाद, 1972, पृ.- 23
18. महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कड़ियां, भारती भंडार, प्रयाग, संस्करण, 1958, पृष्ठ-33
19. महादेवी वर्मा, क्षणदा, भारती भंडार, इलाहाबाद, 1972, पृ.-119
20. वही, पृ.-11
21. महादेवी वर्मा, मेरा परिवार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1986, पृ.-23
22. वही, पृ.-24
23. वही, पृ.-25
24. महादेवी वर्मा, स्मृति की रेखाएं, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1999, पृष्ठ-15
25. वही, पृ.-22
26. महादेवी वर्मा, मेरा परिवार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1986, पृ.-41
27. वही, पृ.-वही
28. वही, पृ.-46
29. वही, पृ.-65
30. वही, पृ.-वही
31. वही, पृ.-73
32. वही, पृ.-83

## शोध पत्र

# प्रतिरोध की संस्कृति, नुक्कड़ नाटक और महिलाएं

सुप्रिया पाठक

असल में नुक्कड़ नाटक का जन्म व उभार पूरी दुनिया में, समाज में जनवादी-आंदोलनों के साथ एक राजनीतिक जरूरत के तहत हुआ है। यदि विश्व में नुक्कड़ नाटक के जन्म पर नजर डालें तो पता चलेगा कि रूस में समाजवादी स्थापना के बाद सांस्कृतिक-आंदोलन के लिए रंगमंच के प्रयोग के दौरान और द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान नाजीवाद और फासीवाद के विरुद्ध सेना को तैयार करने के लिए इसका प्रयोग किया गया। चीन में क्रांति के लिए किसानों को तैयार करने के लिए तीसरे दशक में इसका जन्म हुआ, तो स्पेन में गृहयुद्ध के दौरान, वियतनाम में जापानी, फ्रांसीसी और अमेरिकी हमलावरों के विरुद्ध युद्ध के दौरान, क्यूबा में क्रान्ति के तुरंत बाद और पूरे लैटिन अमेरिका व अफ्रीका में राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम के दौरान और अमेरिका में यह खेत मजदूरों और नीग्रो के बीच संघर्ष और संगठन के साधन के रूप में लोकप्रिय हुआ।

भारत में यद्यपि रामलीला व रासलीला आदि की लोक-प्रस्तुतियों में नाटक के इस रूप के पैदा होने की संभावना मौजूद थी, परंपरागत तौर पर इस तरह के प्रहसन या तो राजाओं की खिल्ली उड़ाकर उनके प्रति अपने रोष को जताने का माध्यम थी या फिर धार्मिक भूख को शांत करने का जरिया। इन दो तत्वों की अधिकता के कारण यह एक मनोरंजन प्रधान विधा ही बनकर रही, इसमें कोई विशेष गुणात्मक परिवर्तन नहीं हुआ। इसलिए भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अंग्रेजी शासन की पोल खोलने की सोची तो उनको यह सशक्त माध्यम तो नजर आया, पर वे इसकी सीमा को नहीं लांघ सके। उनके नाटकों के कथ्य बेशक अंग्रेजी शासन की नीतियों के बारे में जनता को आगाह करते थे, लेकिन उनमें हास्य की अधिकता होने के कारण वे मनोरंजन करने तक ही सीमित रहे और अंग्रेजी शासन की असलियत बताने और उसके विरुद्ध आंदोलनकारी चेतना निर्माण करने में आंशिक रूप से ही सफल हुए। राजनीतिक स्पष्टता और जनता के प्रति नाटककार की प्रतिबद्धता के कारण नुक्कड़ नाटक की जिस तरह की पहचान बनी उस दृष्टि से भारतेंदु के नाटकों को नुक्कड़ नाटकों की श्रेणी में तो बेशक नहीं रखा जा सकता। फिर भी यह भी सच है कि जब कलाकारों ने अपना सामाजिक दायित्व निभाने के लिए नुक्कड़ नाटक को चुना तो उनको नाटक के इस परंपरागत रूप ने बहुत मदद की, बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने इस रूप की मनोरंजन-प्रधानता को दूर करके इसका राजनीतिक संस्कार किया। जनता तक पहुंच को देखते हुए कभी सरकारों ने अपने प्रचार के लिए इसका इस्तेमाल करना चाहा तो कभी प्रतिक्रियावादी ताकतों ने, लेकिन नुक्कड़ नाटक के प्रारूप में ही कुछ बात है कि वे अपने मकसद के लिए इसका प्रयोग नहीं कर सके।

मध्यवर्ग की मानसिकता से ग्रस्त विद्वानों ने लंबे समय तक नुक्कड़ नाटक को विधा के तौर पर स्वीकार नहीं किया। नुक्कड़ नाटक में शुरू से ही बड़े कलाकारों की समृद्ध परंपरा होते हुए भी इसका प्रदर्शन करने वालों को कलाकार का दर्जा ही नहीं मिला और यदि मिला भी तो दूसरे दर्जे का। उसकी जनपक्षधरता को तो सराहा गया, लेकिन इसके कला-पक्ष की घोर उपेक्षा की गई। बावजूद इसके नुक्कड़ नाटक के कलाकारों ने अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता के ऐतिहासिक दायित्व को निभाते हुए अविस्मरणीय पहचान बनाई। स्वतंत्रता के बाद भारत के शासक वर्ग ने विकास का पूंजीवादी रास्ता अपनाया जो जनता की आकांक्षाएं पूरी नहीं कर पाया। मंहगाई, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार जैसी समस्याएं विकराल रूप धारण करती गईं और असमान विकास के चलते अलगाववाद, क्षेत्रवाद, जातिवाद जैसी समस्याओं ने जनता की एकता को तार-तार करना शुरू किया। इस स्थिति को देखते हुए जनता के संघर्षशील व जुझारू तबकों ने विरोध करना शुरू किया। किसानों, मजदूरों, स्त्रियों, विद्यार्थियों के छोटे-छोटे आंदोलनों को नुक्कड़-नाटक ने अभिव्यक्ति दी।

नुक्कड़ नाटक की राजनीतिक प्रखरता एवं प्रतिबद्धता की वजह से इस पर राजनीतिक प्रोपगेंडा का नाटक होने के आरोप हमेशा लगते रहे हैं, वैसे तो प्रत्येक युग में राजनीति, समाज के केंद्र में रही है और जनजीवन को नियंत्रित व संचालित करने वाली शक्ति रही है, लेकिन वर्तमान लोकतांत्रिक व्यवस्था में राजनीति समाज की चर्चा का केंद्रीय सवाल है। कोई जागरूक रचनाकार और नागरिक राजनीति से अछूता नहीं रह सकता। मानव समाज के सामने प्रस्तुत अधिकांश समस्याएं राजनीति की देन हैं और निःसंदेह उनका समाधान भी राजनीति में ही है। कालजयी रचनाएं वही बन सकी हैं जिनमें तत्कालीन राजनीति के मुख्य सवालों व संघर्ष को उजागर करने की क्षमता थी। विमर्श के केंद्र में सर्वाधिक रहने वाले महाकाव्य रामायण और महाभारत से यदि राजनीति निकाल दी जाए तो इनमें शायद ही कुछ मनुष्य के काम का बचे। भारत के स्वतंत्रता-आंदोलन के दौरान वही रचनाएं लोकप्रिय हुईं जिन्होंने तत्कालीन राजनीति को अपना विषय बनाया।

भारतीय समाज में वर्चस्वशाली वर्गों की विचारधारा, पितृसत्ता और वर्ण-व्यवस्था के माध्यम से लोगों के विचार व व्यवहार को नियंत्रित करती है। समाज की लगभग दो-तिहाई आबादी के शोषण को यह विचारधारा वैध ठहरा देती है। स्त्रियों और दलितों को बराबरी का दर्जा मिले बगैर जनवादी व न्यायपूर्ण समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती। नुक्कड़ नाटकों ने स्त्री के आर्थिक व दैहिक शोषण तथा विकास के उचित अवसरों से वंचित करने के चित्र दर्शाए हैं और स्त्री का समाज के विकास में योगदान को प्रस्तुत किया है। समाज में शासक वर्गों द्वारा फैलाई जा रही मिथ्या-चेतना को दूर करने व संघर्ष चेतना को प्रखर करने में नुक्कड़ नाटक की भूमिका महत्वपूर्ण है। जनता के जनवादी संघर्षों के स्वरो ने जहां नुक्कड़ नाटक के विकास में योगदान दिया है वहीं नुक्कड़ नाटक ने भी जनवाद के पक्ष में उठे स्वरो को अभिव्यक्ति प्रदान करके व इन्हें सूत्रबद्ध करके इन्हें मजबूती प्रदान की।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद निर्मित नवीन राजनीतिक स्थिति में एक नई सांस्कृतिक पहचान के निर्माण हेतु एक राष्ट्रवादी परियोजना के तौर पर साम्यवादी दल की सांस्कृतिक इकाई के रूप में 'इप्टा' का गठन किया गया था। 'इप्टा' की पहली कोशिश थी एक नए तरह के थिएटर का निर्माण करने की, जो मुख्यधारा के थिएटर की अपेक्षा अधिक यथार्थपरक हो। युद्धकालीन परिस्थितियां,

‘ब्लैकआउट’, देश के विभिन्न भागों में अकाल, आर्थिक बाधाएं और सर्वव्यापी आतंक, इन सबने इस नई थिएटरीय विधा को प्रासंगिक बना दिया। ‘इप्टा’ ने अपने प्रथम थिएटर परियोजना ‘नवान्न’ में दो अभिनेत्रियों (तृप्ति मित्रा, शोभा सेन) को शामिल और प्रशिक्षित कर रंगमंच पर उतारा। इन्हें अलग किस्म की अभिनेत्रियों के रूप में प्रचारित किया गया। ये दो अग्रणी अभिनेत्रियां बाद में दो प्रमुख थिएटर-समूह की सह आयोजक बन गईं, जो ‘इप्टा’ के बाद की अवस्था में एक दूसरे में विलीन हो गए। बंगाल के प्रगतिशील स्वैच्छिक कलाकार आंदोलन के अगुआ बनी इन दोनों ने आगे चलकर दो निर्देशकों से विवाह कर लिया। तृप्ति मित्रा ने शंभु मित्रा के साथ विवाह किया और शोभा सेन ने अपने पूर्व पति को तलाक देकर उत्पल दत्त से 1961 में विवाह किया। वे थिएटर की दुनिया की मुख्य अभिनेत्री बन गईं। ऐसी स्थिति में, जब हमेशा अभिनेत्रियों की कमी बनी रहती थी, उनकी सुनिश्चित निष्ठा ने निर्देशकों के हित में अच्छा काम किया।<sup>2</sup>

अभिनेत्री-कथा का यह नया दौर संभवतः स्वयं अभिनेताओं की कथा के भीतर अपना स्थान बनाने के लिहाज से काम कर रहा था। यह नई पीढ़ी, जो थिएटर को उभार रही थी शिक्षा, श्रेणी और सामाजिक पृष्ठभूमि की दृष्टि से व्यावसायिक अभिनेताओं से काफी भिन्न थी। एक नए ऐतिहासिक थिएटर आंदोलन के रूप में इप्टा एक महत्वपूर्ण साधन था। इस संबंध में, अभिनेताओं ने नामकरण की पद्धति के रूप में ‘सांस्कृतिक कार्यकर्ता’ को अपनाया, लेकिन अभिनेत्रियों ने बड़ी मुश्किल से इसे अपनाया। ‘अभिनेत्री’ नाम आम तौर पर प्रचलित रहा।<sup>3</sup>

द्वितीय विश्वयुद्ध के अंत में वीमेंस इंटरनेशनल डेमोक्रेटिक फेडरेशन की तुलना में अधिक राजनीतिक संगठन ‘नेशनल फेडरेशन ऑफ इंडियन वीमेन’ का गठन हुआ। तब तक एम.ए.आर. एस का विलय एन.एफ.आई.डब्ल्यू. में हो गया था। 1948 में कम्युनिस्ट पार्टी पर प्रतिबंध के साथ ही महिला-गतिविधियां भी अन्य पार्टी नेताओं के साथ भूमिगत हो गईं। वीमेंस इंटरनेशनल डेमोक्रेटिक फेडरेशन (डब्ल्यू.आई.डी.एफ.) के 1945 में सम्पन्न तृतीय कांग्रेस में रेणु चक्रवर्ती, सुशीला गुप्ता और विद्या मुंशी की सक्रिय भूमिका के कारण एम.एफ.आई.डब्ल्यू को पुनर्जीवित कर दिया गया।<sup>4</sup> विभाजन और कम्युनिष्ट पार्टी के भीतर असहमति के कारण 1960 के दशक में भारत-चीन युद्ध एवं सरकार की नीतियों के प्रति भय से संबंधित एन.एस.आई.डब्ल्यू मार्स से अलग हो गया, जिसको भारतीय कम्युनिष्ट पार्टी मार्क्सवादी, पंकज आचार्य, ज्योति चक्रवर्ती, माधुरी दासगुप्ता और कनक मुखर्जी ने पुनर्जीवित किया।

महिलाओं के आंदोलन और उनकी सांस्कृतिक सक्रियता के परिप्रेक्ष्य में एन.एफ.आई.डब्ल्यू. अथवा एम.ए.आर.एस. ने कभी भी सांस्कृतिक आंदोलन में भाग नहीं लिया। इन्होंने कामकाजी वर्ग की महिलाओं को प्राथमिकता दी तथा उनमें स्वास्थ्य, स्वच्छता जैसे विषयों पर जागरूकता पैदा की। विद्या मुंशी ने एन.एफ.आई.डब्ल्यू. का इतिहास लिखते हुए उन व्यापक सांस्कृतिक आंदोलन का जिक्र किया है, जिनका प्रचार आरंभिक वर्षों में लैंगिक जागरूकता के लिए किया गया।

महिलाओं के लिए खास तौर पर संचालित सांस्कृतिक कार्यक्रमों यथा, पंजाब में गिद्दा, गुजरात में ‘गरबा’ अथवा महाराष्ट्र में ‘लावनी’ का उपयोग व्यापक रूप से सांस्कृतिक संबंध विकसित करने हेतु किया जाता था। उदाहरणार्थ, पंजाब में यह रिवाज था कि गांव की सारी महिलाएं उस घर के सामने जमा हो जाती थीं, जहां कोई पुत्र पैदा हुआ करता था, और उस अवसर पर आनंद मनाने के

लिए 'गिद्धा' नृत्य का आयोजन किया जाता था। लोक स्त्री सभा के सदस्यों ने ठीक वैसे ही पुत्रियों के जन्म के अवसर पर इसका आयोजन कर इस परंपरा को बदल दिया। उत्तर प्रदेश और बिहार में प्रचलित 'नौटंकी', गुजरात में 'भवई', बंगाल में 'जात्रा' अथवा महाराष्ट्र में 'पावडा' का आयोजन भी सामाजिक मुद्दों को प्रचारित करने के उद्देश्य से किया जाता था।

#### महिला आंदोलन की क्रियात्मक रणनीति : नुक्कड़ नाटक

दीनबंधु मित्रा के 'नील दपर्ण' से लेकर हरिश्चंद्र के 'दुर्लभ बंधु' जैसे तमाम नाटक जो इप्ता द्वारा मंचित किए गए, उन सबने औपनिवेशिक काल के दौरान होने वाले स्त्रियों के शोषण तथा स्वाधीनता आंदोलन में उनकी सहभागिता को एक साथ प्रस्तुत किया। हालांकि ये सभी कथानक राष्ट्रवाद के ईद-गिर्द ही बुने जा रहे थे। नाटककार स्त्रियों के प्रति होने वाली हिंसा को समुदाय अथवा राष्ट्र की प्रतिष्ठा के प्रति हो रही हिंसा के साथ जोड़कर देख रहे थे। दूसरे, उन्होंने महिला कार्यकर्ताओं की छवि को उस बलिदानी रूप में प्रस्तुत किया जिसमें राष्ट्र की रक्षा के लिए वे अपने प्राण भी न्यौछावर करने को तैयार थीं। अर्थात् स्त्री की बदलती हुई भूमिका को भी पितृसत्तात्मक राष्ट्रवादी विमर्श में समाहित करने का प्रयास किया जा रहा था।

इस दृष्टि से प. राधेश्याम कथावाचक द्वारा लिखित नाटक 'परिवर्तन' उल्लेखनीय है। 1926 में लिखित यह नाटक अपने नाम के अनुरूप ही परिवर्तनकारी था। इस नाटक को सबसे पहले न्यू अल्फ्रेड नाटक कंपनी ऑफ बंबई द्वारा एशिया महाद्वीप के कई हिस्सों में मंचित किया गया। यही वह दौर भी था जब स्वतंत्रता आंदोलन में महिलाओं की सहभागिता राजनीतिक एजेंडे के तहत चरम पर थी। इस नाटक का कथानक त्रिकोण पर आधारित था जो समाज सुधार तथा देश भक्ति के प्रश्न में निहित जटिलताओं पर प्रकाश डालता था। नाटक की तीन प्रमुख पात्र लक्ष्मी (एक समर्पित एवं सुघड़ गृहिणी), चंदा (एक वेश्या) तथा माया (एक अंग्रेजीदां महिला जिसने परंपरागत मूल्यों को खारिज कर दिया था) थीं। तीनों महिलाएं केंद्रीय भूमिका में थीं। इस नाटक में पुरुष पात्र के मन में नैतिक दुविधा को उठते हुए दिखाया गया था जिसे अपनी पत्नी और वेश्या में किसी एक का चुनाव करना था। अंततः वह एक नैतिक चुनाव के रूप में अपनी पत्नी को चुनता है। इस नाटक के जरिए राष्ट्र की परिधि के अंदर एक पत्नी, वेश्या तथा अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त महिला के लिए 'स्थान' को लेकर बहस पैदा करने की कोशिश की गई थी। अंततः यह नाटक चंदा के सुधार के साथ समाप्त होता था जहां वह अपना जीवन राष्ट्र की सेवा के लिए समर्पित करने को तैयार होती है और अपनी कमाई हुई संपत्ति से एक महिला महाविद्यालय खोलने का निर्णय लेती है। नाटककार चंदा के इस कृत्य के लिए उसे देवी का स्थान देते हैं और उसे विभिन्न हिंदू धार्मिक नामों जैसे सावित्री, दमयंती, गार्गी तथा गांधारी से विभूषित करते हैं वहीं माया को अपनी भूल का अहसास होता है और वह लक्ष्मी की तरह ही आदर्श गृहिणी बनने का निर्णय लेती है। अंततः यह नाटक भी अन्य नाटकों की तरह नैतिक शिक्षा के साथ खत्म होता है कि स्त्रियों की छवि राष्ट्र हित में होनी चाहिए। इस तरह के नाटकों की हमारे पास भरमार है जो वर्चस्वशाली राष्ट्रवादी विमर्श को मजबूती प्रदान करने के लिहाज से लिखे गए थे और हिंदू स्त्रियों-पुरुषों पर भिन्न-भिन्न तरीके से नैतिक दबाव बना रहे थे।<sup>5</sup>

यहां इस नाटक का जिक्र करने का मकसद दरअसल औपनिवेशिक शासनकाल के दौरान

रंगमंच की दुनिया में स्त्रियों के प्रश्न को लेकर पनप रही दुविधा को व्यक्त करना था। राष्ट्रवादी पुरुष स्त्रियों की भूमिका को परिभाषित करते हुए उससे आर्दश पत्नी और मां होने की अपेक्षा कर रहा था। इसके साथ ही, आधुनिक एवं परंपरागत स्त्री के मध्य उनकी भूमिका को लेकर भी बहस जारी थी। राष्ट्रवादी पितृसत्ता ने 'संभ्रांत स्त्री' को जिस रूप में प्रस्तुत किया था उसमें वेश्या और अंग्रेजीदां स्त्री किसी भी लिहाज से फिट नहीं बैठती थी। जो स्त्री अपनी शिक्षा के बल पर आधुनिक हो रही थी, सुगृहिणी के रूप में उसकी विश्वसनीयता भी घर-गृहस्थी के प्रति उसके समर्पण भाव से तय होती थी। घर एक ऐसा स्थान था जो राष्ट्रवादी पितृसत्ता का आधार था जहां से राष्ट्र एवं स्त्रियों के सवाल हल हो रहे थे।

'संभ्रांतता' के इस मापदंड का असर यह हुआ कि स्त्रियों की आवाज एक बार फिर दबा दी गई और वे हाशिए पर धकेल दी गईं। राष्ट्रवाद के पूरे विमर्श में स्त्रियों की भूमिका एक सहयोगी की रह गई। उन्हें सिर्फ वहीं भूमिकाएं निभानी थीं जो उन्हें प्रदान की गई थी। ठीक यही स्थिति थिएटर की दुनिया में भी थी। साथ ही, राष्ट्रवाद की पितृसत्तात्मक मनोवृत्ति एवं रंगमंच में विद्यमान स्त्रियों के प्रति धारणा, वैचारिक तौर पर एक दूसरे को संबल प्रदान कर रहे थे। जो महिलाएं रंगमंच में आ रही थीं आमतौर पर उन्हें वेश्या के रूप में देखा जाता था। यही कारण था कि उनके नाटक कंपनियों अपने यहां महिला कलाकारों को नियुक्त नहीं करती थीं। महिला कलाकारों और नर्तकियों के प्रति यह रवैया 1947 तक कायम रहा। विनोदिनी दासी बंगाल में 19वीं सदी की एक मशहूर अभिनेत्री थी जिसने अपना सर्वस्व जीवन थिएटर को समर्पित कर दिया था, को भी समाज में सम्मान प्राप्त नहीं हो सका। इसके दो कारण थे; एक तो वह एक वेश्या की पुत्री थी, दूसरे उसने रंगमंच को अपना व्यवसाय बनाया था। इतना ही नहीं, राष्ट्रवादी आंदोलन के दौरान वामपंथी सांस्कृतिक ईकाई के रूप में उभरी इप्टा जिसकी शुरुआत एक महिला ने की थी और अनगिनत महिलाएं इसमें सक्रिय थीं उसका एजेंडा भी राष्ट्रीय हित था जिसका परिणाम यह हुआ कि घरेलू दुनिया में महिलाओं के मुद्दों को लगातार अनदेखा किया गया।

यह रवैया 1970 में जाकर तब समाप्त हुआ जब विभिन्न नारीवादी समूहों ने महिला मुद्दों के प्रति चेतना जागृति का कार्य शुरू किया और अपने संघर्षों को नुक्कड़ नाटकों के जरिए सड़क पर लेकर आईं। कुछ महत्वपूर्ण नारीवादी संगठनों जैसे जोगारी, स्त्री मुक्ति संगठन, गरीब, जोगारी संस्थान, थिएटर यूनियन तथा सहेली ने इस कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। हालांकि इस संबंध में अधिक लिखित दस्तावेज उपलब्ध नहीं हैं परंतु व्यक्तिगत प्रयासों के कारण जो थोड़े बहुत साक्ष्य उपलब्ध हैं, उनसे यह पता चलता है कि किस प्रकार इन स्वायत्त संगठनों ने औरतों की कहानी और रोजमर्रा की उनकी तकलीफों को सार्वजनिक मुद्दे के तौर पर पेश किया।<sup>6</sup>

1947 के बाद स्त्री सशक्तीकरण तथा सामाजिक परिवर्तन के उद्देश्य से महिला नुक्कड़ नाटकों की शुरुआत हुई। स्वतंत्र भारत के अग्रणी नेताओं द्वारा सभी नागरिकों को समान अधिकार दिए जाने का वायदा किया गया था। परंतु संवैधानिक रूप से स्त्री-पुरुष को समान नागरिक अधिकार एवं दर्जा दिए जाने के बावजूद नारीवादियों ने यह महसूस किया कि वे सभी वायदे कहीं पीछे छूट गए थे। खासतौर पर यह बात हिंदू कोड बिल के संदर्भ में महसूस की गई। 1955 में पास हुए इस बिल में महिलाओं को संपत्ति में कुछ अधिकार देने के वायदे किए गए तथा विवाह एवं तलाक संबंधी

मामलों में स्त्री-पुरुष को समान दर्जा देने का आश्वासन भी दिया गया। समानता के अधिकार के ये वायदे बहुत हद तक एकांगी थे जिसके कारण महिलाएं लगातार सार्वजनिक एवं घरेलू जिंदगी में सामाजिक अन्याय की शिकार होती रहीं।

1970 के दशक में सामाजिक हिंसा और महिलाओं के प्रति हो रहा शोषण 'दहेज हत्याओं' के रूप में हमारे सामने आया। ये हत्याएं वधू पक्ष द्वारा वर पक्ष की मांगों को पूरा न कर पाने के कारण होती थीं। भारत में इस प्रकार के 'पारिवारिक झगड़े' लगभग सभी जातियों, वर्गों, धर्मों तथा समुदायों में सामान्य बात थे। वास्तविकता यह थी कि दहेज की शर्त पत्नी उत्पीड़न का पर्याय बन गई थी। महिला आंदोलन के लिए उस दौर में यह क्रूरता प्रमुख मुद्दा थी। कम्युनिस्टों तथा वामपंथी पार्टियों ने भी क्षोभ के साथ यह बात स्वीकारी कि यह कुरीति उनके अपने सदस्यों के बीच भी जारी है।<sup>7</sup>

पत्नी-उत्पीड़न का यह मुद्दा सारे देश के महिला आंदोलन का केंद्र-बिंदु बन गया। दहेज के विरुद्ध चलाए जाने वाले अभियान के अंतर्गत महिला कार्यकर्ताओं को पीड़ित महिलाओं से बार-बार होने वाली मुलाकातों और उनकी व्यथा-कथा सुनकर यह बात समझ में आ रही थी कि इस देश में स्त्रियों को अनेक संकटों का सामना करना पड़ रहा है। नारीवादी समूह स्वयं भी उनकी कोई सहायता कर पाने में खुद को लाचार महसूस कर रहे थे।

समकालीन नारीवादी आंदोलन में दहेज के विरुद्ध प्रारंभिक विरोध हैदराबाद में सन 1975 में प्रगतिशील महिला संगठन द्वारा दर्ज कराया गया। अनेक बार संगठन द्वारा आयोजित प्रदर्शनों में महिलाओं की संख्या सौ तक पहुंच गई फिर भी उनका विरोध प्रदर्शन पूर्णरूपेण आंदोलन की शक्ति नहीं ले पाया। लगभग दो वर्षों की खामोशी के बाद दहेज के विरुद्ध आंदोलन दिल्ली में शुरू हुआ। यह आंदोलन इस बार महिलाओं के दहेज-उत्पीड़न पर केंद्रित था। खासतौर से दहेज हत्या के विरुद्ध पंजाब, महाराष्ट्र, कर्नाटक, गुजरात, मध्य-प्रदेश, पश्चिम-बंगाल सहित भारत के अनेक भागों में विरोध अभियान चल रहे थे परंतु दहेज संबंधी अपराधों के विरुद्ध विस्तृत आंदोलन दिल्ली में ही चल रहा था। इसका कारण यह था कि दिल्ली में दहेज के कारण होने वाली हत्याओं की संख्या सबसे अधिक थी।<sup>8</sup>

अब तक आग लगने से होने वाली मौतों को आत्महत्या के रूप में लिया जाता था, और दहेज-उत्पीड़न को आत्महत्या का कारण बहुत कम माना जाता था। आमतौर पर पुलिस द्वारा भी ऐसे मामलों को 'पारिवारिक और निजी' कहकर नजरअंदाज कर दिया जाता था। इसे राज्य की चिंता का विषय नहीं माना जाता था। बहरहाल, दशकों से चली आ रही इस उदासीनता का नारीवादियों ने विरोध किया तथा आग लगने से होने वाली मौतों को यह कहते हुए कि उनकी औपचारिक 'आत्महत्याएं' आत्महत्याएं नहीं, बल्कि हत्याएं हैं, उसे दहेज उत्पीड़न से जोड़ना शुरू किया गया। कुछ मामलों में दहेज हत्या की शिकार महिलाएं बयान देने के लिए काफी देर तक जीवित रहीं और उन्होंने अपने मृत्यु-पूर्व बयान में सास-ससुर द्वारा दहेज के लिए तंग किए जाने का उल्लेख भी किया परंतु पुलिस ने इतनी सुस्त और देर से कारवाई की कि हत्यारे साक्ष्य मिटाने में कामयाब हो गए और हत्या के मामले को आत्महत्या कहकर सारा मामला रफा-दफा कर दिया गया।

बहरहाल, नारीवादियों ने इस स्थिति के विरुद्ध यह कहते हुए आवाज बुलंद की कि मृत्यु-पूर्व



महिला द्वारा दिए गए बयान को साक्ष्य माना जाए और पुलिस के तौर तरीकों को चुस्त किया जाए तथा समाज हत्यारों का बहिष्कार करे। कुछ लोगों पर इसका असर भी हुआ। उन्होंने सहमति जताते हुए धरने में भी भाग लिया। विरोध प्रदर्शन इतना जोरदार होता था कि अभियुक्तों के घर पहुंचते-पहुंचते जुलूस तीन गुना बढ़ा हो जाता। इस जुलूस में हत्यारों के पड़ोसी, अपने बच्चों के साथ शामिल होते, सफाई कर्मचारी, घरेलू नौकर तथा आसपास से गुजरने वाले लोग भी इसमें शामिल हो जाते। इस सफलता को देखते हुए नारीवादियों ने दहेज के मुद्दे को उठाने के लिए लोगों से संवाद का सीधा तरीका खोजने की जरूरत महसूस की। नए तरीके तलाशने के लिए हुई चर्चा के दौरान 'नुक्कड़ नाटक' का सुझाव उभरा जिसके पश्चात स्त्री संघर्ष ने दहेज हत्या पर आधारित पहला नुक्कड़ नाटक 'ओम स्वाहा' खेला गया। नाटक की कहानी दो महिलाओं की दहेज हत्या पर आधारित थी। इसकी लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि सभी क्षेत्रों से समिति के पास नाटक के प्रदर्शन के अनुरोध आने लगे। लोगों ने नारी रक्षा समिति को पत्र लिखकर उनके क्षेत्रों में आने तथा 'नुक्कड़ नाटक' करने का अनुरोध किया। नाटक करने वाली अधिकतर महिलाएं मध्यवर्गीय थीं। और उनकी ओर से पहली बार यह सक्रिय प्रयास किया गया था।<sup>9</sup>

राजनीतिक रूप से अस्थिर इस वातावरण में कई प्रतिरोधी आंदोलन जैसे- छात्र आंदोलन, मजदूर हड़ताल, कृषक आंदोलन का जन्म हुआ था जिसके परिणामस्वरूप आनन-फानन में सरकार को इमरजेंसी (1975-77) की घोषणा करनी पड़ी। इसी क्रम में कई महिला संगठनों का भी गठन हुआ जैसे बंबई में फोरम अगेंस्ट ऑप्रेशन ऑफ वूमेन, विमोचना, स्त्री शक्ति संगठन, सहेली, जागोरी आदि। इन सभी संगठनों ने राज्य को इस बात के लिए सीधे तौर पर उत्तरदायी ठहराया कि वह महिलाओं के प्रति हो रही हिंसा के प्रति जरा भी सजग नहीं है और सरकार से इस तरफ विशेष ध्यान देने की अपील की।

1979 में दिल्ली में नारीवादियों के एक समूह ने पहली नारीवादी पत्रिका 'मानुषी' की शुरुआत की जिसने बुलंद आवाज में दहेज जैसी कुप्रथा की विरोध करते हुए महिला आंदोलन को एक महत्वपूर्ण मंच उपलब्ध कराया। 1978 में दिल्ली में सुभद्रा बुटालिया ने दहेज को अपने प्रतिरोध का मुख्य विषय बनाया। अन्य सभी गतिविधियों के अतिरिक्त इन संगठनों ने नारे लिखे, दहेज पीड़ितों के घर के सामने धरना प्रदर्शन किया तथा पुलिस के दस्तावेजों की छानबीन शुरू की।<sup>10</sup>

नारीवादी कार्यकर्ताओं ने नुक्कड़ नाटकों के माध्यम से इन सामाजिक कुप्रथाओं को सबके सामने उठाने का तरीका अपनाया। यह नाटक सिर्फ निर्देशात्मक ही नहीं थे, बल्कि मनोरंजन भी थे। उदाहरण के लिए कई महीनों तक लगातार दहेज हत्याओं के विरुद्ध धरना प्रदर्शन करते हुए, नारे लगाते हुए, पोस्टर लगाते हुए स्त्री संघर्ष ने यह महसूस किया कि- 'नुक्कड़ नाटक वास्तव में लोगों को संबोधित करने का सबसे सीधा और सरल तरीका था'। अनुराधा कपूर, रति बार्थोलोम्यू तथा माया राव के प्रयासों से स्त्री संघर्ष ने 'थिएटर यूनियन' नाम की ईकाई का गठन किया जिसका उद्देश्य नाटकों के माध्यम से स्त्री अधिकारों के प्रति जनता में जागरूकता पैदा करना था।

1980 में पहली बार थिएटर यूनियन द्वारा 'ओम स्वाहा' नामक नुक्कड़ खेला गया जिसे जनता ने इतना पसंद किया कि बाद में कई स्थानों पर इसे खेला गया। पूरे नाटक का कथानक एवं संवाद जैसा कि अनुराधा कपूर बताती हैं :

‘पंजाबी लोकगीत और वहां की स्थानीय बोली में लिखे गए। इन नाटकों ने आम लोगों के बीच ऐसा असर पैदा किया कि ज्यादा से ज्यादा लोग दहेज जैसी कुप्रथा के खिलाफ बोलने लगे और औरतों की वर्तमान दशा से मुक्ति के लिए कृतसंकल्प होने लगे। ‘ओम स्वाहा’ जैसे नाटक ने जनता में यह संदेश फैलाने में सफलता हासिल कर ली थी कि घरों के बंद दरवाजों के भीतर अभी बहुत कुछ ऐसा है जिस पर बात किया जाना जरूरी है’।<sup>11</sup>

अनुराधा कपूर इस प्रदर्शन की सफलता का जिक्र करती हुई बताती हैं कि ‘नाटक का दर्शकों पर इतना जबरदस्त असर होता था कि नाटक खत्म होने के बाद औरतें झुंडों में हमारे पास आती थीं और पूछती थी कि ‘हमें किसी चीज की जरूरत तो नहीं’।

भारत में महिला थिएटर ग्रुप के रूप में थिएटर यूनियन ने न सिर्फ दहेज हत्या जैसे मुद्दों को उठाया बल्कि सती-प्रथा और पुलिस हिरासत में होने वाले बलात्कारों को भी अपने प्रदर्शनों में मुद्दा बनाया। बलात्कार के मुद्दे को नाटक ‘दफा 108’ में उठाते हुए पुलिस हिरासत में महिलाओं के अधिकारों से दर्शकों को अवगत कराया जाता। समूह ने इस नाटक को कॉलेजों, पार्कों तथा उन झुग्गी बस्तियों में कई-कई बार दिखाया जहां की औरतों को पुलिस वेश्या होने के संदेह पर गिरफ्तार करती थी और जेल के अंदर महिलाएं कई दिनों तक बलात्कार का शिकार होती थीं।

दिल्ली में थिएटर यूनियन के अतिरिक्त भारत के अन्य शहरों और गांवों में भी कई थिएटर कार्यशालाओं का आयोजन किया गया जिसमें जन नाट्य मंच जिसे माला हाशमी चला रही थीं, शमशुल इस्लाम की निशांत जिसमें हबीब तनवीर और बादल सरकार जैसे कार्यकर्ता शामिल थे, अह्वान जैसे संगठन सभी साथ मिलकर आवाज उठा रहे थे। इनमें से कई समूहों ने अपने नाटक खुद लिखे और खुद ही उनका निर्देशन किया। झुग्गी-बस्तियों, सड़कों, पब्लिक-पार्कों, फुटपाथों, विश्वविद्यालय-परिसरों में इन नाटकों को खेलते हुए आवश्यकतानुसार इसमें परिवर्तन और संशोधन भी किए जाते रहे।

इन संगठनों के अतिरिक्त कई छोटे-मोटे संगठन भी थे जिन्होंने अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान दिया परंतु मुख्यधारा की मीडिया द्वारा उसका दस्तावेजीकरण नहीं किया जा सका। 1991 में हेमा रैंकर के निर्देशन में 15 किसान महिलाओं और दो पुरुषों के साथ किए गए नाटक ‘अबला स्त्री’ पर एक सामूहिक चर्चा आयोजित की गई और इसी के आधार पर एक और नाटक भी किया जिसका नाम था, ‘सामाजिक बंधन’। स्त्री मुक्ति संगठनों ने ‘मुल्गी झाली आहे’ नामक नाटक किया जिसे महाराष्ट्र के 2000 लोगों के बीच प्रदर्शित किया गया। ज्योति म्हापसंकर जो इस संगठन की निर्देशिका थी, ने बताया है कि-

‘मैंने इस नाटक को लिखा था। यह नाटक उन महिलाओं से प्रेरित था जो इतने शोषणकारी एवं दमनकारी परिस्थितियों में अपना जीवन गुजारती हैं। इस नाटक को देखने के बाद कई लोग इस संगठन के सदस्य बने’।<sup>12</sup>

इसके अतिरिक्त, शीला रानी द्वारा शुरू किए गए एक समूह ने दो महीने तक तमिलनाडु में नुक्कड़ नाटकों का आयोजन किया। यह आयोजन उस शिक्षा अभियान का हिस्सा था जो कन्या भ्रूण हत्या के विरुद्ध जागरूकता पैदा करने के लिए चलाया जा रहा था। रंगमंच के अधिकांश कलाकार यह मान रहे थे कि महिलाओं द्वारा झेले जा रहे शोषण को व्यक्त करने का थिएटर एक आसान

और प्रभावकारी माध्यम था। अपनी गतिशीलता के कारण लोगों के थिएटर पहुंचने की बजाए यह लोगों तक पहुंच रहा था। वे लोग जिनके पास बहुत कम समय होता था, जो धरने में भाग लेते थे, उनके घरों के सामने होने वाले इस प्रकार के नुक्कड़ नाटकों ने स्त्रियों द्वारा किए जा रहे संघर्ष को और मजबूती प्रदान की। कई बार नाटक पीड़ित महिलाओं को भी यह अवसर उपलब्ध कराते थे कि वे अपने अनुभव लोगों से साझा करें। नुक्कड़ नाटकों के प्रदर्शन में बहुत कम संसाधनों की आवश्यकता पड़ती थी, वे कम खर्चीले भी थे, छोटे बजट में किए जा सकते थे और कलाकारों को कोई मेहनताना भी नहीं देना पड़ता था।

सहेली के साथ जुड़ी एक कार्यकर्ता का मानना है कि- 'वे सभी कार्यकर्ता जो सामाजिक मुद्दों पर नाटक किया करती थीं, उन्हें नुक्कड़ नाटक में यह संभावना दिखती थी कि वे अपने मुद्दों और प्रतिरोध को सड़क पर ला सकें। महिलाओं के अधिकारों के लिए अभियान चला सकें तथा मीडिया, राजनीति और सरकार की स्त्री संबंधी नीतियों एवं कार्यक्रमों में हस्तक्षेप कर सकें'।<sup>13</sup>

सहेली की इस कार्यकर्ता ने इस माध्यम के प्रभाव तथा महिलाओं के स्वास्थ्य, दहेज तथा अन्य मुद्दों पर बने नाटकों की रचना तथा प्रस्तुति पर भी विस्तारपूर्वक चर्चा की। महिलाओं के थिएटर की एक और ध्यान वाली बात यह थी कि वे अपनी घरेलू जिंदगी की तकलीफों और समस्याओं को जाहिर करने के लिए मशहूर नारों और लोक परंपराओं का सहारा लेती थीं। खासतौर पर, नारों के जरिए वे नाटकों को बोझिल और उबाऊ बनाने की बजाए रोचक और मरोरंजन बनाती थीं। साथ ही, इस क्रम में वे दर्शकों के साथ एक रिश्ता भी बनाती थीं। वे जताती थी कि जिस तरह हमारे गीत तुम्हारे हैं, उसी तरह हमारे संघर्ष भी तुम्हारे हैं। कई थिएटर ग्रुप ऐसे भी थे जो अपना शीर्षक ही ऐसा चुनते जिसमें सामूहिकता का बोध हो। उनके नाम से ही दर्शकों को उनके एजेंडे के बारे में पता लग जाता था। वे सभी समस्याएं जिनका सामना औरतें कर रही थीं उन्हें सिर्फ एक सामाजिक कारण के रूप में ही नहीं देखा गया बल्कि उन्हें जाहिर करने के लिए नाट्य प्रविधि का भी सहारा लिया गया। इन संगठनों ने इस कार्य के लिए बड़ी संख्या में महिलाओं को कलाकार, लेखिका तथा कहानी सुनाने वाली के रूप में शामिल किया। अपनी कहानी कहते हुई अभिनेत्रियां सिर्फ अपने व्यक्तिगत अनुभवों पर ही केंद्रित नहीं थी, बल्कि वे उन तरीकों को भी उजागर करती थीं जिनके द्वारा सामाजिक मूल्यों एवं अपेक्षाओं की परिधि में उन्हें बांधकर रखने का प्रयास करती थीं। नाटकों को रचने की प्रविधि में भी यह कोशिश की जाती थी कि उनकी आपबीती को साझा करने के क्रम में ही नाटक का कथानक भी तैयार हो सके और थोड़ी बहुत फेरबदल के साथ उसे प्रस्तुत किया जा सके। इसका अर्थ यह था कि दर्शकों के बीच से ही सवाल पैदा हों और उन सवालों को स्त्री सशक्तीकरण के संदर्भ में समझने की कोशिश की जाए।

कई महिलाओं को नुक्कड़ नाटकों में भाग लेने के कारण अपनी घरेलू पहचान से इतर एक एक नई स्वतंत्र सामाजिक पहचान बनाने का मौका भी मिल रहा था। नुक्कड़ नाटक के एक रिपोर्ट में एक महिला कलाकार के अनुभव का उल्लेख करते हुए बताया गया कि यह महिला 10वीं पास थी जिसे आगे पढ़ने की अनुमति नहीं दी गई। एक बार जब महिला नाट्य समूह उसके गांव अपनी प्रस्तुति देने गया तब वह इस समूह में शामिल हो गई। उसने थिएटर समूह को अपने सशक्तीकरण के रूप में देखा। उसकी आजादी तथा महिला मुद्दों के प्रति उसके योगदान ने गांव के अन्य स्त्री

पुरुषों को भी इस काम के लिए प्रेरित किया। कई महिला कलाकारों ने इसमें काम करते हुए 'सामाजिक सम्मान' का भी अनुभव किया।

इन्हीं महिलाओं में से कुछ अकादमिक जगत की भी महिलाएं भी थीं जिनका जुड़ाव हमेशा महिला आंदोलनों के साथ बना रहा। अनुराधा कपूर, रति बार्थलोम्यू, माया कृष्ण राव, ऊषा गांगुली, त्रिपुरारी शर्मा तथा कीर्ति जैन जैसी स्त्रियों ने नाटक को एक माध्यम के रूप में स्त्री-प्रतिरोध की सांकेतिक अभिव्यक्ति प्रदान की। यह सिर्फ तत्कालीन घटनाओं पर केंद्रित अभिव्यक्ति नहीं थी, बल्कि समाज में गैर बराबरी और दोगले दर्जा के मिलने से पैदा होनेवाली दंश की अभिव्यक्ति भी थी। उनके द्वारा निर्देशित नाटकों, अभिनीत पात्रों तथा रचित कथानकों के कारण एक तरफ जहां महिला आंदोलनों को संबल मिला, वहीं दूसरी तरफ नाटक की दुनिया में अब वे मात्र पात्र न होकर अपनी मजबूत उपस्थिति भी दर्ज करा रही थीं। अब यह समूह स्थापित नाट्य परंपरा, नाट्य प्रविधि और संरचना में अपना सकारात्मक हस्तक्षेप दर्ज कराने की स्थिति में पहुंच चुका था। नाट्य जगत के बुद्धिजीवियों ने भले ही उनके कार्यों को पुरुषों के समकक्ष नहीं माना परंतु उनकी समझ और निर्देशकीय क्षमता को नजरअंदाज भी नहीं कर सकते थे। कई बार इन महिलाओं द्वारा किए जाने वाले कार्यों को एक खास पुरुषवादी मनोवृत्ति के तहत 'नारीवादी' या महिला निर्देशिका, महिला अभिनेत्री कहकर उन्हें अलग पहचान देने की कोशिश भी की गई। अनुराधा कपूर, त्रिपुरारी शर्मा, माया राव जैसी स्त्रियां हैं जो यह मानती हैं कि नाटक 'स्व की जड़ता' से मुक्ति का माध्यम है जिसे पुरुष या स्त्री के खांचों में विभाजित नहीं किया जा सकता। यह भी उतना ही सत्य है कि नाटक के निर्देशन के दौरान एक स्त्री की दृष्टि वही नहीं हो सकती जो एक पुरुष की होती है। निस्संदेह महिलाएं ज्यादा संवेदनशीलता एवं एक नवीन दृष्टि के साथ काम करती हैं, जिसके कारण प्रस्तुति में भी फर्क पड़ता है। किसी व्यक्ति की निर्देशकीय या अभिनय क्षमता का मूल्यांकन उसके स्त्री-पुरुष होने के आधार पर किया जाना अनुचित है। दरअसल यह एक खास किस्म की पुरुषवादी मनोवृत्ति है जो महिलाओं को अलग पहचान देने के क्रम में भी उनके बराबरी के अधिकार का हनन करती है। साथ ही, वे यह भी मानती हैं कि अपनी रंगयात्रा में उन्होंने और उनकी जैसी लगभग सभी साथी कलाकारों ने अनगिनत बार पुरुषों के साथ काम करते हुए एक अहम भाव और संरक्षित किए जाने की स्थिति का सामना किया।

इन समस्त महिलाओं की जीवन एवं रंगयात्रा को जानने-समझने के क्रम में यह तथ्य स्पष्ट हुआ कि रंगमंच की दुनिया में स्त्रियों की बतौर निर्देशिका, अभिनेत्री, समीक्षक की उपस्थिति पहले की अपेक्षा बढ़ी है। उन्होंने अपने कौशल और क्षमता से स्वयं को स्थापित किया है। इन महिलाओं के आने का सबसे व्यापक असर यह हुआ कि विश्व-भर में वृहद स्तर पर चल रहे विभिन्न आंदोलनों एवं प्रतिरोध के अंदर स्त्री संघर्ष को एक अलग समझ के साथ अभिव्यक्त करने का अवसर मिला। इस क्रम में बी जयश्री की 'मंथरा', ऊषा गांगुली की 'रूदाली', अनुराधा कपूर की 'एंटीयगनी प्रोजेक्ट', माया कृष्ण राव की 'ए डीप फ्राइड जैम', त्रिपुरारी शर्मा की 'महाभारत से', कीर्ति जैन की 'और कितने टुकड़े', अमाल अल्लामना की 'सोनाटा', जे शैलजा की 'धात्री' मीता वशिष्ठा की 'नीति मानकीकरण', वीणा पानी चावला की 'वृहन्नबला', नीलम मानसिंह चौधरी की 'किचन कथा' तथा मलयश्री हाशमी की 'वो बोल उठी' महत्वपूर्ण नाटक हैं। हालांकि इनमें से अधिकतर निर्देशिकाएं स्वयं को 'महिला

निर्देशिका' कहलाना पसंद नहीं करतीं बावजूद इसके, उनके नाटक स्त्री संवेदना एवं सरोकारों से जुड़े रहे हैं। कुछ महिलाएं ऐसी हैं जो सहर्ष यह स्वीकार करती हैं कि वर्तमान सामाजिक परिदृश्य में यदि उनके द्वारा निर्देशित नाटक स्त्री संघर्ष एवं उसके प्रतिरोध को स्वर प्रदान करते हैं तो एक नारीवादी कार्यकर्ता के रूप में यह उनकी रणनीति का हिस्सा है। कीर्ति जैन तथा उषा गांगुली जैसी निर्देशिकाएं यह मानती हैं कि- 'समाज में महिला निर्देशक अपना स्थान बनाने के लिए काफी काम कर चुकी हैं। कुछ लोगों को हमारे काम को मान्यता प्रदान करने में समस्या हो सकती है परंतु हमें इस समस्या का सामना करना है। हमारे नाटकों की विशिष्ट शब्दावली तथा सौंदर्यबोध की परंपरागत रंगकर्म के मापदंड पर आंका जा रहा है। महिला निर्देशक का लेबल लगने के कारण हमें जो अनुभव हुए उन्हीं के फलस्वरूप हमने उसका प्रतिकार किया। नारीवादी या महिला निर्देशक कहकर हमारी रचनात्मकता को नकारा जाता है और इस प्रकार के वर्गीकरण से हमें एक कमजोर श्रेणी में रखा जाता है ये वो लोग हैं जो आपकी सोच और सृजनात्मकता को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।'

अपनी रंगयात्रा के अनुभवों को साझा करने के क्रम में उन्होंने यह स्वीकार किया कि अभी भी रंगमंच की पितृसत्तात्मक व्यवस्था में महिलाओं के लिए वह स्थान निर्मित नहीं हो पाया है जिसकी वे हकदार हैं। नाट्य निर्देशन ऐसा क्षेत्र है जहां हमेशा से पुरुषों का वर्चस्व रहा है और इसलिए रंगमंच में संप्रेषण की जो भाषा बनी है उसका एक खास स्वरूप है। महिलाओं को अभी लंबा सफर तय करना है। इतने सारे बदलावों के बावजूद जो नहीं बदला है वह है समाज का महिलाओं के प्रति दृष्टिकोण। आज भी उन्हें सम्मानजनक दर्जा प्राप्त नहीं है। अभिनय या रंगमंच की किसी भी विधा में सक्रिय महिलाओं को आज भी पितृसत्तात्मक मनोवृत्ति 'संभ्रांत स्त्री' मानने को तैयार नहीं है। इन महिलाओं के सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत जीवन में कई विरोधाभासी परिस्थितियां विद्यमान हैं।

रंगमंच के इतिहास को तलाशना किसी भी क्षेत्र में महिलाओं की सहभागिता के इतिहास को जानने की तरह ही है। वस्तुतः यह प्रतिरोध और पुनर्सृजन का दस्तावेजीकरण है। जिसे संपन्न करने के दौरान कई रोचक कई बहसधर्मी एवं कई कड़वे तथ्यों से सामना हुआ। रंगमंच और महिलाओं के अंतर्संबंध को तलाशने के क्रम में यह आलेख अशंतः ही सफल हो पाया है। इसमें अभी आगे भी शोध कार्य किए जाने की प्रचुर संभावनाएं विद्यमान हैं। हिंदी रंगमंच में विशेष तौर पर साहित्यिक हलकों के अतिरिक्त जो बहस तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में चलीं, उनका अलग से अध्ययन किया जाना शेष है, जिसके उपरांत हिंदी प्रदेशों में विद्यमान जेंडर पूर्वाग्रहों को रंगमंच की दृष्टि से जानने-समझने की संभावनाएं पैदा होगी। साथ ही जनवादी नाट्य समूहों और नारीवादी नाट्य समूहों द्वारा प्रस्तुत किए गए नाटकों का अध्ययन एवं विश्लेषण किए जाने की आवश्यकता है ताकि मुख्यधारा द्वारा व्याख्यायित स्त्री विषयक मुद्दों एवं नारीवादी समूहों द्वारा सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था पर प्रश्न उठाने के क्रम में उसे स्त्रियों की दृष्टि से देखे जाने की प्रविधि के बीच के फर्क को समझा जा सके।

**संदर्भ :**

1. प्रज्ञा, नुक्कड़ नाटक रू रचना और प्रस्तुति, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय
2. Bhatia Nandi, Performing Women/Performing Womanhood- Theatre, Politics and Dissent in North India, September, 2010

3. Dharwadker, Aparna Bhargava, Theatre of independence, Drama, theory and performance in India since 1947
4. Bhatia Nandi. Act of Authority/Act of resistance- Theatre and Politics in colonial and postcolonial India, Oxford University Press, 2004.
5. Bhatia Nandi, Bringing women's struggles to the streets in postcolonial India, Act of Authority/Act of resistance- Theatre and Politics in colonial and post colonial India, Oxford University Press, 2004.
6. औरतें और रंगमंच, विशेषांक, नुक्कड़, अप्रैल-सितंबर, 2007, अंक-35-36.
7. राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन
8. वही
9. Bhatia Nandi, Bringing women's struggles to the streets in postcolonial India, Act of Authority/Act of resistance- Theatre and Politics in colonial and post colonial India, Oxford University Press, 2004
10. जिनी लोकनीता, साधना आर्या, (संपा.), नारीवादी राजनीति, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय
11. kanika Batra, In Alliance with the women's movement, 2008.
12. औरतें और रंगमंच, विशेषांक, नुक्कड़, अप्रैल-सितंबर, 2007, अंक-35-36.
13. वही



## मीडिया

# मीडिया-बाजार में सरोकार का सवाल

मुकेश कुमार

उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में मीडिया प्रतिस्पर्धी बाजार में पाठकों को आकर्षित करने में ज्यादा जुट गया। इंडस्ट्री को चलाने वाली मुख्य ताकत मनोरंजन और विज्ञापन बन गए, जिन्होंने राजनीति और सामाजिक संवाद को विस्थापित कर दिया। मीडिया तेजी से बड़े व्यावसायियों के नियंत्रण में चला गया। वह लोकतांत्रिक विचार-विमर्श की जगह कार्पोरेट हितों के लिए इस्तेमाल होने लगा। यह कार्यांतरण मीडिया के पुनर्संमितीकरण का हिस्सा था और इसमें सोचने वाली जनता को भागीदारी वाले लोकतंत्र से दूर और अपरिचित कर दिया गया। इसकी जगह ऐसी जनता ने ले ली जो बहुत वैचारिक या आलोचक नहीं थी और जिसकी चिंता उपभोग में थी।

-जर्गेन हैबरमास

जन सरोकारों से बढ़ती दूरियों की वजह से मीडिया लगातार प्रश्नों और आलोचनाओं के घेरे में है। हालांकि मीडिया में जन सरोकारों को लेकर चिंता बहुत पुरानी है, लगभग उतनी ही पुरानी जितना की मीडिया है। उसकी भूमिका को लेकर संदेह भी तभी से प्रकट किए जाते रहे हैं उसे लोकतंत्र में जनता के हथियार के बजाय पूंजीवाद के औजार के तौर पर देखा और माना गया कि जन सरोकारों से उसका संबंध न के बराबर है। हालांकि एक समानांतर कोशिश उसकी विश्वसनीयता स्थापित करने की भी होती रही। इसी का परिणाम था उसे लोकतंत्र के चौथे खंभे के रूप में प्रचारित करना। यहां ये स्पष्ट करना जरूरी है कि हम जब मीडिया की बात करते हैं तो वह मुख्यधारा का मीडिया होता है, जो कि कुल मीडिया का नब्बे प्रतिशत से भी बड़ी हिस्सेदारी रखता है। हाशिए पर रहकर जन सरोकारों की बात करने वाले मीडिया को सामने रखकर हम मीडिया के चरित्र और चेहरे की बात कर भी नहीं सकते, क्योंकि उसका प्रभाव क्षेत्र बहुत ही सीमित होता है।

बहरहाल, गत दो-तीन दशकों में स्थितियां तेजी से बदली हैं और ये लगभग आम सहमति बन गई है कि अगर मीडिया में कभी कुछ जन सरोकार थे भी तो उसने उन्हें तिलांजलि दे दी है। ऊपर दी गई समाजविज्ञानी जर्गेन हैबरमास की उक्ति में इस परिवर्तन को बड़े ही प्रभावी ढंग से व्यक्त किया गया है। उनके जैसी मान्यता रखने वाले अब केवल वही नहीं हैं, जो पूंजीवाद का विरोध करते हैं, बल्कि उसके घनघोर समर्थक भी उनमें शामिल हैं। इसीलिए हम पाते हैं कि मीडिया आज हर ओर से निंदा-भर्त्सना का पात्र बन रहा है। आम लोग तो हर जगह शिकायत करते हुए मिल ही जाते हैं मगर दूसरे वर्ग भी अब खुलकर मीडिया की भूमिका को लेकर आक्रोश प्रकट करते हैं इनमें

वे लोग भी शामिल हैं जो खुद बहुत सारे कुकर्मों में लिप्त रहे हैं और जिनके दामन दागदार हैं। ऐसे लोगों का मीडिया के खिलाफ बोलना इसलिए महत्वपूर्ण हो जाता है कि मीडिया के बिगड़ते स्वरूप इस तरह के नैतिक पाखंड की छूट दे रहा है।

इस पर भी गौर किया जाना चाहिए कि मीडिया के जन सरोकारों से विलग होने की ये परिघटना भारत तक सीमित नहीं है, बल्कि ये अंतरराष्ट्रीय स्तर पर यही हो रहा है। दुनिया भर में मीडिया से यही शिकायत की जा रही है कि वह मुनाफाखोर हो गया है, वह दूसरे उद्देश्यों से संचालित हो रहा है और उसे समाज की चिंता बिल्कुल नहीं रह गई है। सामाजिक समस्याओं को या तो वह देखता नहीं या फिर उन्हें वह मनोरंजन की शक्ति में पेश करता है। अमेरिका और यूरोप के मीडिया से इस प्रवृत्ति की शुरुआत हुई थी और फिर वह धीरे-धीरे पूरी दुनिया में फैल गई है। इन दो महाद्वीपों में तो मीडिया न केवल सरोकारों से हटा है बल्कि जन विरोधी भूमिका भी अख्तियार कर चुका है। रुपर्ट मर्डोक की पत्रिका न्यूज वर्ल्ड द्वारा एक मृत लड़की का फोन हैक करने के बाद उठा विवाद इसकी एक जबर्दस्त मिसाल है। निजता में दखल देने की वजह से ब्रिटेन में इतनी नाराजगी फैली कि बाकायदा जांच बैठाई गई और जस्टिस लेवसन ने मीडिया के लिए सख्त कानूनों की तजवीज की। इसी तरह इराक पर हमले की भूमिका बनाने और फिर युद्ध की पक्षपातपूर्ण रिपोर्टिंग करने में सत्ता प्रतिष्ठान का देकर भी उसने यही साबित किया कि उसकी वफादारी पूंजी और सत्ता के प्रति है न कि जनता और लोकतंत्र के।

इतने सारे उदाहरणों और इतनी विषम परिस्थितियों के बावजूद जब सभा-सेमिनारों में कुछ लोग मीडिया का बचाव करते हुए दिखते हैं तो सबको हैरत होती है। ये हैरानी स्वाभाविक भी है क्योंकि जब सब कुछ इतना स्पष्ट हो तो कोई कैसे मीडिया में पसरी नकारात्मकता का पक्ष ले सकता है। दरअसल, ऐसा करने वाले लोग दो तरह के हैं। पहले तो वे जो किसी ऐसे सत्ता प्रतिष्ठान से जुड़े हुए हैं जिनके स्वार्थ की रक्षा करना उनका दायित्व या मजबूरी है। दूसरी श्रेणी में ऐसे लोग आते हैं जिनकी मीडिया के बुनियादी चरित्र और स्वभाव की समझ बहुत सतही है और मीडिया के हितैषी की भूमिका ओढ़कर खुद को क्रांतिकारी दिखलाने की कोशिश करते हैं। हां, इन दोनों के बीच का एक छोटा सा वर्ग ऐसा भी है जो मीडिया की असलियत से भली-भांति वाकिफ है मगर उसे लगता है कि वर्तमान व्यवस्था में वह एक ऐसा मंच है जिसका थोड़ा-बहुत इस्तेमाल जन-सरोकारों के पक्ष में किया जा सकता है, इसलिए उस पर हमला करने के बजाए उसे सुधारने की कोशिश करनी चाहिए लेकिन इस सोच में दो कमियां हैं। एक तो आलोचना का मतलब आक्रमण नहीं होता, बल्कि वह भी सुधार प्रक्रिया का ही हिस्सा है। जब तक आप मीडिया में छिपे निहितार्थों का पर्दाफाश नहीं करेंगे, उसके गुप्त एजेंडे से लोगों को वाकिफ नहीं करवाएंगे तब तक मीडिया में गलत काम करने को लेकर भय पैदा नहीं होगा। इससे मीडिया में आत्मालोचना का भाव भी विकसित हो सकता है, जो कि लोकतंत्र के लिए बेहद जरूरी है।

बहरहाल, असली सवाल ये है कि क्या सचमुच में मीडिया की जन सरोकारों से दूरी बढ़ी है और अगर बढ़ी है तो उसकी वजह क्या है। पहले मीडिया और जन सरोकारों के आपसी संबंधों की बात करते हैं। ये तो हम ऊपर ही कह चुके हैं कि बहुमत मानता है कि मीडिया जन सरोकारों को भूल गया है, इसलिए अब इस पर नए सिरे से बहस करने की जरूरत नहीं है हालांकि इस मामले



में मीडिया के पक्षधर कई मिसालें देकर साबित करने की कोशिश करते हैं कि ये एक मिथ्या धारणा है, झूठा प्रचार है। वे अन्ना के आंदोलन या दिल्ली में दुष्कर्म की शिकार अभया के कवरेज का हवाला देकर अपने तर्क की पुष्टि करने की कोशिश करते हैं। बीच-बीच में मीडिया द्वारा चलाए जाने वाले अभियानों या सम-सामयिक मुद्दों पर लड़ाकू भूमिका अख्तियार करने के उदाहरण भी दिए जाते हैं। जब हम इन तमाम मुद्दों के कवरेज के पीछे की नीयत को टटोलते हैं तो हमारी समझ में आ जाता है कि ये अपने लिए बाजार तैयार करने और मुनाफा बढ़ाने की कवायद का हिस्सा ही होता है। मसलन, ये तो स्वयंसिद्ध है कि टीवी चैनल टीआरपी से निर्देशित होते हैं। वे प्रदर्शित करने वाली सामग्री के बारे में निर्णय ही इस आधार पर लेते हैं कि उसे किस तरह के कितने दर्शक देखेंगे। यही वजह है कि उनकी सामग्री सेसेब्रिटी, सनसनी, विवादों और क्रिकेट जैसी चीजों पर ज्यादा केंद्रित होती है। यहां तक कि चर्चाओं के विषय, हिस्सेदार और उनका संचालन भी इसी को ध्यान में रखकर किया जाता है। यानी चैनलों की निर्णय प्रक्रिया के केंद्र में दर्शक नहीं उपभोक्ता होते हैं। इन उपभोक्ताओं को भी उनकी आय, क्रय क्षमता, रुचियों-अरुचियों, उम्र, लिंग आदि की बिना पर चुना जाता है। इस प्रक्रिया में गरीब, मजदूर, किसान, गांव आदि से जुड़े मुद्दे बाहर हो जाते हैं। जाहिर है कि उनके सरोकारों का दायरा सिकुड़ जाता है। इसे सरोकारों में बदलाव के तौर पर भी देखा जा सकता है। आप चाहें तो इसे बाजार से जुड़े सरोकार कह सकते हैं। यानी मीडिया के सरोकार अब जनता के सरोकार न होकर बाजार के सरोकार हो गए हैं।

सरोकारों में बदलाव की ये प्रक्रिया भारत में उपभोक्तावाद के आगमन के साथ ही शुरू हो गई थी, मगर सन् 1991 इस मामले में मील का पत्थर साबित हुआ, क्योंकि इसी वर्ष भारत सरकार ने वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की दिशा में छलांग लगाई। इसी के साथ मीडिया का असंतुलित, अनावश्यक और सरोकारविहीन विस्तार भी शुरू हुआ। सरकारी नियंत्रण में चलने वाले जन माध्यम तमाम बुराईयों के बावजूद काफी हद तक इस बात का ध्यान रखते थे कि नकारात्मक चीजों को बढ़ावा न मिले। दर्शक संख्या बढ़ाने या ज्यादा मुनाफा कमाना उनका लक्ष्य नहीं था इसलिए सामग्री में विविधता भी होती थी और विकृतियां भी अपेक्षाकृत बहुत कम होती थीं लेकिन जैसे ही मीडिया में निजी पूंजी की दिलचस्पी और प्रभाव बढ़ा परिदृश्य एकदम से बदलने लगा। पहले पहल मीडिया घरानों ने खुद को गंभीर खिलाड़ी के रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की और लोगों ने उसे सराहा भी लेकिन जैसे ही पत्र-पत्रिकाओं और टीवी चैनलों की संख्या बढ़ी, प्रतिस्पर्धा में इजाफा हुआ और फार्मूलेबाजी शुरू हो गई। इसका सीधा असर जन सरोकारों पर पड़ा, क्योंकि उन्होंने सबसे पहले उनकी ही बलि चढ़ानी शुरू कर दी।

सरोकारों से नाता टूटने की एक बड़ी वजह ये भी रही कि इस बीच ऐसे लोगों की मीडिया में तादाद एकदम से बढ़ती चली गई जिनका मुख्य उद्देश्य मीडिया को मीडिया की तरह चलाना नहीं था, बल्कि उससे अपने व्यावसायिक, राजनीतिक और आपराधिक स्वार्थों की रक्षा करना था इनमें बिल्डर, चिट फंड के कारोबारी, अपराधी और राजनीति से जुड़े लोग शामिल हैं। इनका उद्देश्य मीडिया की शक्ति का इस्तेमाल करना था लिहाजा उन्होंने अपने संस्थानों और वहां काम करने वाले पत्रकारों को इसी के अनुसार ढाल दिया या ढलने को मजबूर कर दिया। अच्छे और सरोकारी पत्रकारों को दरकिनार कर दिया गया। ऐसे पत्रकारों की फौज तैयार की गई जिसे केवल मोटी तनखाहों से वास्ता

था और उसके लिए वे कुछ भी करने के लिए तैयार थे। इसी दौर में संपादक नामक संस्था को खत्म कर दिया गया। उन्हें प्रबंधक बना दिया गया और वे खबरों का धंधा करने लगे, दलाल बन गए, भूत-प्रेत, चमत्कार आदि पर आधारित कार्यक्रमों के टीआरपी बढ़ाने वाले निर्माता बन गए। नए पत्रकारों के चयन में भी उनका यही रवैया हो गया। सरोकारी पत्रकारों को वे छांटने लगे और उनके हिसाब से ढल जाने वाले पत्रकारों को तरजीह दी जाने लगी। इस तरह के संपादकों ने मीडिया शिक्षण संस्थानों पर ये तोहमत मढ़नी शुरू कर दी कि वे उन्हें बाजार के हिसाब से तैयार नहीं कर रहे। ऐसे मीडिया संस्थानों के मालिकों का हाल तो और भी बुरा रहा। कुछेक वर्षों में कई मीडिया संस्थानों के स्वामी जेल गए हैं या विभिन्न अपराधों की वजह से उन पर मुकद्दमे चल रहे हैं। जाहिर है कि ऐसे मीडिया से कोई सरोकारों की उम्मीद कैसे कर सकता है।

लेकिन पतन का ये सिलसिला अभी थमा नहीं है, बल्कि उसका नया दौर शुरू होने वाला है। मीडिया का कारपोरेटीकरण नए चरण में प्रवेश कर रहा है इसे कंसोलिडेशन का नाम दिया गया है। इससे मीडिया पर बड़े कारपोरेट घरानों का पूरा और पक्का नियंत्रण हो जाएगा या मीडिया घराने कारपोरेट में तब्दील हो जाएंगे। इसका सीधा असर मीडिया के सरोकारों पर भी पड़ेगा। वह आम जनता हितों के बजाय कारपोरेट के स्वार्थों का रक्षक बन जाएगा। इसके लक्षण पहले से ही दिखने लगे थे मगर अब वे ज्यादा उजागर होंगे और नंगी आंखों से दिखाई देंगे। मीडिया ऐसी आर्थिक नीतियों की खुलकर वकालत करने लगा है जिनसे कारपोरेट जगत के स्वार्थ सधते हैं। उदाहरण के लिए कमजोर तबकों को दी जाने वाली सब्सिडी की तो वह मुखालफत करता है मगर कारपोरेट जगत को उससे भी कई गुना ज्यादा दी जा रही टैक्स राहतों के बारे में चुप रहता है। आर्थिक अपराधों की खोजबीन उससे नहीं होती और न ही उनके द्वारा पहुंचाए जा रहे देश की प्राकृतिक संपदा को नुकसान की चिंता ही सताती है। उसका रवैया कारपोरेटपरस्त हो गया है, इसलिए उसे न तो गरीबी दिखती है, न आर्थिक विषमता और न ही बेरोजगारी। जन कल्याणकारी नीतियों के संबंध में भी वह कारपोरेट का प्रवक्ता बनकर विरोध पर उतर आता है। गरीबों, दलितों, आदिवासियों, महिलाओं और अल्पसंख्यकों जैसे कमजोर तबकों के बारे में उसका रवैया उपेक्षा का हो गया है। सुप्रसिद्ध अमेरिकी चिंतक और भाषाविज्ञानी नोम चोमस्की का ये कथन सौ फीसदी सही है कि मीडिया सत्ता और बाजार को नियंत्रित करने वाली ताकतों यानी कारपोरेट के पक्ष में सहमति के निर्माण (मैन्यूफैक्चरिंग कंसेंट) करता है।

दिव्यक्त यहीं खत्म नहीं होती। मीडिया इतना शक्तिशाली हो गया है कि वह सुधार की किसी भी कोशिश का विरोध करता है और उसे कामयाब नहीं होने देता। कंटेंट कोड बनाने का प्रस्ताव उसने ये कहकर खारिज कर दिया कि वह आत्मनियमन से अपनी खामियां दूर कर लेगा, लेकिन लगभग पांच साल का वक्त गुजर चुका है और किसी भी तरह का सुधार नजर नहीं आ रहा। ध्यान रहे कि तमाम पश्चिमी देशों में कंटेंट कोड लागू है और जो भी उसका उल्लंघन करता है कड़ी सजा पाता है। यहां तक कि कई देशों जैसे, ब्रिटेन में नियामक संस्थाएं भी हैं, जो सामग्री को दुरुस्त रखने के लिए सख्ती से काम लेती हैं। भारतीय दूरसंचार नियामक ने कुछ समय पहले एक घंटे में कुल बारह मिनट विज्ञापन दिखाने का पुराना कानून लागू करने की कोशिश की थी मगर चैनलों ने जोर लगाकर उसे अमल में आने से रोक दिया। ये नियम भी तमाम बड़े देशों में लागू है और इसका सीधा

संबंध दर्शकों के अधिकार से है। वे भला बेकार में तीस-चालीस मिनट विज्ञापन क्यों देखें।

ये तो रही टीवी चैनलों की बात, प्रिंट का हाल भी कुछ कम बुरा नहीं है। भारतीय प्रेस परिषद के पास दांत और नाखून ही नहीं हैं। उसमें मालिकों का भी वर्चस्व है और वे अपने खिलाफ कुछ होने नहीं देते। इसीलिए परिषद पेड न्यूज पर स्वयं द्वारा बैठाई गई जांच कमेटी की रिपोर्ट तक सार्वजनिक नहीं कर पाई थी।

मीडिया के स्वामित्व का मुद्दा इतना प्रबल और प्रभावशाली है कि उससे जन सरोकारों की अपेक्षा रखना एक तरह का छलावा लगती है। इसकी संभावना ही नहीं बचती कि मीडिया बहुसंख्यक जनता के हितों का पहरुआ बने। सरोकारों का मुखौटा वह जरूर पहन लेता है ताकि उसके बारे में ये भ्रांतियां बनी रहे। इसीलिए हम मीडिया में भांति-भांति की कैंपेन देखते रहते हैं लेकिन उनके प्रायोजकों की सूची देखकर ये समझना भी मुश्किल नहीं होता कि वे क्यों चलाई जा रही है, उनका असली मकसद क्या है। वास्तव में मीडिया में सरोकार एक झांसा है। ये समझने और समझाने की सख्त जरूरत है कि साधु के वेश में लुटेरा छिपा हुआ है और उसे नाहक ही पूजे जा रहे हैं। दूसरे उद्योगों की तरह मीडिया भी एक उद्योग है जिसका उद्देश्य अधिकाधिक लाभ कमाना है।



## बात बोलेगी

# अधूरे सूर्यो का सत्य : साबरमती आश्रम से एक्सप्रेस का सफर

संजीव

नीलेश रघुवंशी के उपन्यास 'एक कस्बे के नोट्स' या पंकज सुबीर जैसे कुछ अपवादों को छोड़ दें तो जाने क्यों मुझे मध्य प्रदेश के अधिसंख्य लेखकों की रचनाओं में एक टिपिकल स्लैगिश भाव दिखाई पड़ता है- कुछ-कुछ उदासी की परछाई सा तिरता हुआ भाव! इसे मैंने कहे या कला का सच...? बहिर्मुखी से ज्यादा अंतर्मुखी! अभिधा से ज्यादा व्यंजना और 'कथा' में कथा से ज्यादा कविता! कोई विनोद कुमार शुक्ल, अशोक वापजेयी नहीं, मेरे सामने फिलवक्त प्रकाश कांत हैं और उनका उपन्यास 'अधूरे सूर्यो का सत्य'!

आज जबकि 'गंगा-जुमनी' संस्कृति, 'सर्वधर्म समभाव' या धर्म और व्यक्ति के द्वंद्वात्मक संबंधों की तनी हुई रस्सी पर चलने वाले इंसान की नियति और नीयत पर फिर से सवाल उठने लगे हैं, (ताजा उदाहरण साईबाबा के ईश्वरतत्व पर उठा विवाद और मुरादाबाद) तो इस उपन्यास को देखा जाना जरूरी है। आखिर ऐसा क्या है इस उपन्यास में जो विभूति नारायण राय, असगर वजाहत, शिवमूर्ति, गीतांजलिश्री, मोहम्मद आरिफ आदि की कड़ी को आगे ही नहीं बढ़ाता स्वयं को विशिष्ट भी बनाता है, प्रासंगिक भी?

प्रतिपत्तियों के पहले कुछ आपत्तियां...!

हिंदू-मुस्लिम, दलित-सवर्ण, हिंदू-ईसाई अस्मिताओं की अंतर्धारणाओं और उनके द्वंद्व की इतनी बेहतरीन कथा किन-किन किनारों को भिंगोती, किन-किन भंवों की भूल-भुलैया बनाती चलती है, कहां क्या छूट गया, कहां जरूरत से ज्यादा विलम गए- कभी जूझता कभी रीझता, कभी खींजता रहा। सोचता रहा, काश, कथा नायक अमन, जो लेखक के अनुसार आधा हिंदू और आधा मुसलमान है, एक बार अपने मुसलमान नाना के घर भी जाता..... दो शक्तिशाली चुंबकों के बीच किसी सुचालक धातु के टुकड़े ले जाने की तरह.... ऐसे में कैसी-कैसी विद्युत तरंगें सृजित होतीं, कितने-कितने भूचाल आते और कैसे-कैसे ज्वालामुखी फूटते...! टोपी लगाए दाढ़ी बढ़ाए अपने ननिहाल के रिश्तेदारों के बीच उनकी आंखों की आंच की तपिश को आत्मा कैसे बर्दाश्त कर पाती! दूसरी ओर उसका मित्र जैकब गंगाराम दलित...! जैकब की मनोगत जटिलता के चित्रण में अमन जितना ध्यान क्यों नहीं दिया गया? तीसरी बात किले को लेकर है। एक नायाब मेटाफर चुना था लेखक ने मगर उसका भरपूर उपयोग करने से चूक क्यों गया! दरअसल रचना के पाठ के दौरान, समांतर रूप से हम मन ही मन उसका पुनर्सृजन भी कर रहे होते हैं जिनसे अपेक्षाएं बनती हैं, उनसे कुछ ज्यादा

ही अपेक्षाएं करने लगते हैं। बहरहाल...! कृति पर लौटते हैं।

अमन की परेशानी गौरतलब है....

‘सोचता हूं आधा हिंदू रहकर, आधा मुसलमान बनकर जीऊं। मगर यह कैसे जिया जाता है, पता नहीं, दोनों की संधि रेखा पर हतबुद्ध खड़ा रह जाता हूं। कभी-कभी भीषण रक्तपान से लहलुहान! मेरे जैसे कमजोर इनसान की यही नियति है।’

इतिहास से उसे लगाव है, शायद वहां कोई समाधान हो। उसका किले में रहना संभवतः इसी को इंगित करता है। दलित मित्र जेकब अमन से कहता है, ‘देखो दोस्तों, मैं इतिहास का शिकार हूं और तुम इतिहास के गुमशुदा! हम दोनों के भीतर जरूरी पूंजी की तरह इतिहास के कुछ खास किस्म के दंश हैं। ये दंश ही किले को लेकर हम दोनों का एक खास ऐंगल तय करते हैं।’

‘अधूरे सूर्यो का सत्य’ में सांप्रदायिकता के भेड़िये यूं तो स्वाधीनता पूर्व ‘साबरमती आश्रम’ से ही जीभ लपलपाते पीछा कर रहे थे, मगर उनका आक्रमण परवान चढ़ता है बाबरी मस्जिद विध्वंस (या संदर्भगत साबरमती एक्सप्रेस पर!) इसे प्रकाश कांत ने जिस कौशल, कलात्मक संवेदना और विजन से रचा है, मन दाद दिए बिना नहीं रहता। इस तरह इतिहास के वृहद तिलस्मी किले के भीतर ‘साबरमती टू साबरमती’ का एक अलग इतिवृत्त रच उठाता है। सांप्रदायिकता के वर्तमान परिवृत्त का।

मां की मस्जिद! पिता ने तोड़ दी। सैकड़ों साल पहले कभी पिता का मंदिर मां ने तोड़ा था। उतने साल बाद पिता ने उनका मस्जिद तोड़ दी। एक तरह से मां-पिता के बीच हिस्सा बराबर हो गया। न मां जीतीं, न पिता जीते। दोनों की मिली-जुली हार! संयुक्त हार? मुसलमान मां और हिंदू पिता की संतान नायक अमन कभी मां रोशनी की तरफ से लड़ता है तो कभी पिता उमाशंकर की तरफ से। आज न उसके साथ मां है, न पिता, दोनों ही दिवंगत हो चुके हैं।

कड़्यों की तरह प्रकाश कांत भी हिंदू-इस्लाम विभाजन को भारतीय स्वाधीनता काल की जड़ों से उठाते हैं जब राष्ट्रीय सेंटिमेंट सांप्रदायिक सेंटिमेंट पर हावी था। मां रोशनी, मुसलमान, बाप उमाशंकर हिंदू, हिंदू ही नहीं ब्राह्मण, दादा खांटी कर्मकांडी ब्राह्मण! सांप्रदायिकता से चतुर्दिक जूझता शाखा-प्रशाखा में बंटता-बिखरता उपन्यास अंततः नायक की हत्या-आत्महत्या की रहस्यमयी मृत्यु में पर्यवसित होना है।

यदि अतिकथन, ब्यौरे या इलस्ट्रेशंस से बच जाता कुछ असिंचित, छूट गए जरूरी प्रसंग भी समोए गए होने की यह हिंदू-मुस्लिम और इतर बहुकोणीय सांप्रदायिकता, दलित अस्मिता पर एक नायाब उपन्यास होता, कुर्तुल एन हैदर के ‘आग का दरिया’ अब्दुल्ला की ‘उदास नस्ले’ आदि से भी आगे जाता, तब अवश्य ही उसे अपने संवेदनात्मक कलात्मक रचाव में ही सारी शक्ति जाया करने की बजाय आग के अनुषंगिकता लिए थोड़ा स्पेस बनाना होता।

बावजूद मेरे जैसे लोगों के इन संपादनों के, प्रकाशकांत का उपन्यास ‘अधूरे सूर्यो का सत्य’ एक बेहतरीन कृति है और आत्ममुग्ध कलांध, टुस्स और उबाऊ उपन्यासों की भीड़ में अलग से पहचाना जा सकता है, कला के स्वर भी, कटेंट के स्तर पर भी और दृष्टि के स्तर पर भी।

ठीक भारतीय स्वाधीनता के प्रसव काल के साबरमती आश्रम से उठान भरता उपन्यास देश की प्रमुख घटनाओं को समेटता सांप्रदायिकता और अलगाववाद से टकराता बाबरी मस्जिद विध्वंस तक

आता है। नेशनल सेंटिमेंट के प्रभाव में एक हिंदू ब्राह्मण उमाशंकर एक मुस्लिम कन्या रोशनी से विवाह करते हैं। संतान होती है 'अमन' जो दोनों ओर की सांप्रदायिकता से जीवन भर आक्रांत रहती है। एक अन्य कथा चलती है जेकब की जो दलित से ईसाई बनता है। यद्यपि दोनों ही पात्रों को सहारा देने वाले पात्र बोल्ड और समझदार हैं और कोई प्रत्यक्ष भय भी नहीं है मगर न अमन उस खौफ की मानसिकता से उबर पाता है, न जैकब। अमन हत्या-आत्महत्या में मारा जाता है किले से झूलकर, जैकब औरों से सुलझा होकर भी खुद में उलझा रह जाता है, उलझन और इस्केपिस्ट! उपन्यास यह दिखाने में कामयाब रहता है कि प्रत्यक्ष कारण न भी हो, तो भी सांप्रदायिकता और अलगाव की ये स्थितियां आदमी के मोरल को धीमे जहर से मारती रहती हैं।

तुमने मेरी मस्जिद गिरा दी न? क्या मां पिता से पूछती?

'तुम भी तो पहले बेवजह, बेकार ही मेरे मंदिर गिराती रहीं। क्या पिता ऐसा कोई जवाब देते? या फिर दोनों अपने-अपने भीतर के खंडहरों-मलबों में सिर झुकाए अकेले-अकेले चुपचाप बैठे होते एक दूसरे के अपराधी की तरह तिलक-चोटी, दाढ़ी-टोपी....।

आदमी और आदमी के बीच का वह बंटवारा पिछले कुछ सालों में और भी ज्यादा मजबूत हुआ है।'

'... यह पहचान का संकट नहीं, बल्कि पहचानों का आक्रमण है।'

जटिल सवालों के सामने ला खड़ा करता है उपन्यास। 'मां अगर मुसलमान थीं तो पिता हिंदू क्यों और अगर पिता हिंदू थे मां मुसलमान क्यों? न तो मां हिंदू बनीं, न पिता ने इस्लाम कबूल किया। अगर दोनों में से एक ने अपना धर्म या मजहब बदल लिया होता तो क्या मेरा खून बदल जाता?' सोच-समझकर एक सेक्युलर नाम दिया मां-बाप ने- अमन। मेरे अमन और जैसे सेक्युलर नाम के बाद बाप 'उमाशंकर (की उपाधि) लगाने से जो अर्थ बनता है, वह अमन के साथ मां का नाम 'रोशनी' (अमन रोशनी) लगाने से बदल क्यों जाता है? हिंदू में भी परतें और मुसलमानों में भी परतें...! अमन को धमकाने सताने वाला बाबू खटिक भी हिंदू है। हिंदू दलित और जैकब भी पहले हिंदू दलित गंगाराम (पानी हिंदू था पर दोनों एक नहीं हैं)। हिंदुत्व और दलितत्व और मुसलमानियत और ईसाइयत की अलग-अलग बजती ढोलों की पोल! हिंदू हिकारत की नजर से देखते अमन को, मुसलमान बस्ती से गुजरता तो लगता कि लोग कह रहे हैं- 'मैं उनकी कौम की एक गद्दार लड़की की औलाद हूं।' 'मैं हिंदू के हाथ से भी मारा जा सकता हूं, मुसलमान के हाथ से भी।... मैं जिन दो हिस्सों से बना हूं उनमें से मेरा कौन-सा हिस्सा दूसरे हिस्से को मारेगा- हिंदू वाला हिस्सा मुसलमान की या मुसलमान वाला हिस्सा हिंदू को? इसलिए मैं सड़क से गुजरता हूं तो अजीब-सा कंप्यूज्ड होता हूं। उसको किल के अंदर से छोटे किले उससे ज्यादा मजबूत और अभेद्य हैं। 'मां-पिता क्या सोचते होंगे जब कोई हिंदू या मुसलमान दंगे में मारा जाता होगा। उनके अंदर हर दंगे में कुछ-कुछ मर जाता होगा।...' फिर अमन सोचता है- अगर मैं किसी ईसाई लड़की से शादी कर लूं तो वह न आधा हिंदू और आधा मुसलमान है, उसकी संतानें ऐसे में क्या होंगी? आधा ईसाई, एक चौथाई हिंदू, एक चौथाई मुसलमान...? वैसे भी जब कोई हिंदू मुसलमान समझकर मारेगा वह आधे हिंदू को भी मारेगा, मुसलमान हिंदू समझकर मारेगा तो आधे मुसलमान को भी मारेगा।'

उपन्यास और उपन्यासकार के बहाने चंद बातें उनकी निर्मिति पर... बहुत धैर्य, शोध,

कलात्मक अनुशासन और संतुलन की मांग करता है उपन्यास। हिंदी में इसलिए आज भी अच्छे उपन्यासों की कमी है। भले ही बांह पकड़-पकड़कर आधे-अधूरे, अपच के वमन उपन्यासों को नामी-गिरामी रथी-महारथी अद्वितीय कृति घोषित करते फिरें। ऐसे में प्रकाश कांत का उपन्यास 'अधूरे सूर्यो का सत्य' (अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद) असाध्य को कैसे साध पाया...? इसका कुछ रहस्य उनके देवास में होने और हिंदी-उर्दू, हिंदू-मुस्लिम सेतु श्रेष्ठ कवि नईम के संसर्ग को उनके मार्क्सवादी होने को जाता है।

सुखद है कि इस उपन्यास को प्रथम शिवकुमार मिश्र (कथा साहित्य) सम्मान मिला है जिनका स्रोत स्वयं रणजीत सिंह की रियासत के पौरोहित्य से लेकर उन्नाव आने और जनवाद तक जाता है। उनके अग्रज प्रख्यात विद्वान डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने इस पर विस्तार से लिखा है। यथार्थवाद के ऐसे प्रबल प्रवक्ता प्रकारांतर से उपन्यास के गहन अध्येता और पक्षधर आदरणीय शिवकुमार मिश्र को उनकी प्रथम पुण्यतिथि पर इससे अच्छी श्रद्धांजलि और क्या होगी।



## अवदान

1. पुष्पेश पंत, 4280, सेक्टर 23 ए, गुड़गांव-122017 (हरियाणा) मो. 9810353999
2. कमल किशोर गोयनका, ए-98, अशोक विहार, फेज-प्रथम, दिल्ली -110052 मो. 9811052469
3. राकेश भारतीय, एफ-117, प्रगति विहार हॉस्पिटल, लोदी रोड, नई दिल्ली-3, मो.9968334756
4. गंगासहाय मीणा, 81 न्यू, ट्रांजिट हाउस, जेएनयू, नई दिल्ली-67 मो. 9868489548
5. राकेश कुमार सिंह, कंचनप्रभा, जयप्रकाश नगर, आरा-802301 भोजपुर (बिहार) मो. 9331852844
6. नासिरा शर्मा, डी-37/754, छतरपुर पहाड़ी, नई दिल्ली-110030 मो.9811119489
7. श्री सुबोध कुमार श्रीवास्तव, एफ-1/47, 1100 क्वार्टर्स, अरेरा कॉलोनी, भोपाल-462016 (म. प्र.) मो.9907564010
8. बलराम अग्रवाल, एम.-70, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 मो. 8826499115
9. अशोक वाजपेयी, सी-60, अनुपम हाउसिंग सोसायटी, बी-13, वसुंधरा इनक्लेव, दिल्ली -110096 मो. 9811525653
10. नरेंद्र जैन, 132, श्रीकृष्णा नगर, विदिशा-464001 (म.प्र.) मो. 9425079116
11. स्मिता वाजपेयी, द्वारा- श्री सौरव वाजपेयी, वाजपेयी हार्डवेयर, आर्य समाज रोड, नरकटियागंज, प. चंपारण-845455 (बिहार) मो.9430572748
12. नीलोत्पल, 173/1, अलखधाम नगर, उज्जैन-456010 (म.प्र.) मो. 9826732121
13. राजेश जैन, 40 करिश्मा अपार्टमेंट, 27 इंद्रप्रस्थ एक्सटेंशन, दिल्ली-110092, मो. 9717772068
14. शकील सिद्दीकी, एमआईजी 317, फेज-2, टिकैतराय, एलडीए कॉलोनी, मोहान रोड, लखनऊ-17 मो. 9839123525
15. महावीर अग्रवाल, संपादक 'सापेक्ष', ए-14, आदर्श नगर, दुर्ग (छत्तीसगढ़) फोन- 0788-2210234
16. राजेन्द्र उपाध्याय, बी-108, पंडारा रोड, नई दिल्ली-110003 मो. 9953320721
17. अवधेश प्रधान, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005 (उ.प्र.) मो. 8400925082
18. पंकज पराशर, सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़-202002 (उ.प्र.) मो. 9634282886
19. सुप्रिया पाठक, सहायक प्रोफेसर, स्त्री अध्ययन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, पो.- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र) मो. 9850200918
20. मुकेश कुमार, सी 1302, एपेक्स ग्रीनवेली सेक्टर-9, वैशाली, गाजियाबाद-201010 (उ.प्र.) मो. 9811818858
21. संजीव, 43 ए, डीडीए जनता फ्लैट्स, चिल्ला मयूर विहार, फेज-1, दिल्ली-110091 मो. 8587832148